अध्याय - द्वितीय

चेतना: अर्थ प्रकृति और प्रयोग

चेतना (Comeiousnes) एक ऐसी मानसिक शक्ति होती है जिसकी सहायता से प्राणधारी स्वयं के तथा अपने आस-पास प्रकीर्णित विविध प्राकृतिक एवं मानव निर्मित घटकों, परिवर्तनों तथा क्रियाकलापों आदि की बोधगम्यता अथवा उन्हें समझने और उनका विवेचन-विश्लेषण करने की सामर्थ्य व योग्यता धारण करते हैं। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार चेतना एक ऐसी अनुभूति है जो मस्तिष्क में पहुँचने वाले विभिन्न प्रकार के अभिगामी आवेगों से प्रादुर्भूत होती है। इस चेतना के प्रदुर्भावक आवेगों का अर्थ क्षण तत्क्षण या बाद में भी समझा या निर्धारित किया जा सकता है। प्रत्येक सजीव प्राणी अपने समग्र जीवनकाल में विविध प्रकार के क्रिया-कलाप अवश्य करते हैं। इन क्रिया-कलापों में शरीर के प्रत्येक अंगों की अपनी-अपनी भूमिकाएँ और कार्य-प्रणालियाँ होती है। दूसरे जीवधारियों की समतुल्यता में मनुष्य एवं विशेष कोटि का प्राणी होता है। क्योंकि धरती पर पाए जाने वाले सभी संचरों में से यह एकमात्र ऐसी प्रजाति का जीव है जिसके पास सोचने-विचारने की क्षमता के अतिरिक्त स्वयं के भावानुभावों-विचारों की अभिव्यक्ति योग्य प्रकृति प्रदत्त भाषिक सामर्थ्य भी है। भाषिक और वैचारिक अवदानों के अतिरिक्त मनुष्य के पास प्रकृति अनुदानित जो एक और प्रवृत्ति वर्तमान है वह है- चेतना। यह चेतना मनुष्य को केवल जीवित ही नहीं रखती है बल्कि उसके मनुष्य होने का पर्याप्त प्रमाण भी प्रदान करती है। साथ ही सामान्य जीवधारियों से उसकी पृथकता भी सुनिश्चित करती है।

चेतना के द्वारा ही मनुष्य अपने भौतिक वातावरण में विद्यमान विभिन्न प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित घटकों का सम्यक परिज्ञान प्राप्त करता है। चेतना दरअसल मनुष्य के मस्तिष्क में वर्तमान एक ऐसा अभौतिक एवं अदृश्य अवयव है जो शरीर के विविध अंगो-

प्रत्यंगों को उनके लिए निर्धारित कार्यों को व्यवस्थित ढंग से करने के लिए प्रेरित करती है। चेतना के द्वारा जब शरीर के सभी अंगों-उपांगों को जागृत अथवा निर्देशित कर दिया जाता है तभी ये अंग-प्रत्यंग सर्वोत्तम ढंग से अपना-अपना कार्य करके मनुष्य को बुद्धिमान तथा ज्ञानवान बना देते हैं। इस तरह से चेतना कुछ और नहीं बल्कि मनुष्य मानसिक और वैचारिक विकास का पैमाना अर्थात् मापदण्ड है। जिस मनुष्य का वैचारिक और मानसिक विकास शुन्य होगा उसकी चेतना भी शून्य होगी तथा जिसका मस्तिष्क सामान्य अथवा दैनंदिन मनुष्यों की भाँति कार्य करेगा। उसकी चेतना भी सामान्य किस्म की होगी। इसी तरह विशिष्ट रचनाधर्मिता एवं नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा वाले साहित्यिक मनुष्यों की चेतना उत्कृष्ट स्वरूपों वाली होगी, क्योंकि कल्पनाशक्ति और यथार्थ को समन्वित करके लोककल्याण में सहायक रचनाएँ करना साहित्य-सर्जको की चेतना का उद्देश्य होता है।

विशिष्ट उद्देश्यों और प्रकृतियों वाली चेतना होने के कारण साहित्यिक चेतना अर्थात् साहित्य सृजन में व्यवहृत होने वाली मानसिक एवं वैचारिक सामर्थ स्वतःही विशिष्ट किस्म की हो जाती है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के उपरांत स्वतःस्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के संदर्भ में चेतना उच्च-निम्न तथा विकसित-अविकसित प्रकृति में कुछ और नहीं उसके मानसिक वैचारिक विकास या अकिंचनता की द्योतक मात्र है। इसकी निवर्तमानता में मनुष्य का शरीर और उसका मस्तिष्क जो भी कार्य करेगा वह अव्यवस्थित, अनियंत्रित तथा दरिद्र किस्म का होगा। व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक संदर्भों में चेतना के द्वारा कराया गया ज्ञान, विचार शक्ति अथवा बुद्धि कहलाता है। इसी बुद्धि या विचार शक्ति के कारण मनुष्य एक सामान्य सजीव मात्र होने से इतर मनुष्यता के आसन तक आरूढ़ होने में सफल होता है।

चेतना का पर्याय अथवा समानार्थी शब्द जागृतता है। दोनों की अर्थवत्ता में कोई आधारिक विभेद नहीं पाया जाता है। दार्शनिक संदर्भों एवं सामान्य व्यवहारों में दोनों 'चेतने'

और 'जागने' के समान भावार्थ में व्यवहृत किए जाते है। चेतना अथवा जागृतता मनुष्य की सजीवता के प्रमाण तो है ही, साथ ही इनकी अनुपस्थिति में मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक पटल संकीर्ण, कमजोर और दरिद्र रह जाता है। मनुष्य के चतुर्मुखी विकास के लिए उसके जीवन में विविध प्रकार की क्रियाशीलताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है तथा ये गतिशीलताएँ चेतना की अनुपस्थिति में संपन्न नही हो सकती हैं। वस्तुतः चेतना और जागृतता और कुछ नहीं बल्कि प्रज्ञा या बुद्धि ही है जिसका प्रादुर्भाव मस्तिष्क के भीतर संचरित असंख्य मानसिक संवेगों से होता है। यह एक प्राकृतिक सिद्धांत है कि जिस मनुष्य के मस्तिष्क में संवेगों का संचरण जितनी अधिक तीव्रता से होगा उसकी प्रज्ञा या चेतना उतनी ही अधिक तीव्र एवं उन्नत किस्म की होगी। मानसिक रूप से विशिष्ट किसी व्यक्ति मस्तिष्क में इन्ही संवेगों का संचार ही हो गया फिर अवरूद्ध हो जाता है उनकी चेतना भी निष्क्रिय अथवा समाप्त हो जाती है। इस चेतना या जागृतता की निवर्तमानता में संदर्भित व्यक्ति का शरीर समूचित कार्य नहीं कर पाता है तथा उसका मस्तिष्क भी शरीर के विभिन्न अंगों-उपांगों को यथोचित निर्देश नहीं दे पाता है। परिणाम स्वरूप संदर्भित व्यक्ति को प्रत्येक तरह का कायिक, मानसिक और भौतिक विकास अवरुद्ध जाता है और वह अपनी मनुष्यता को विनष्ट कर दूसरे जीवधारियों की समकक्षता में आ जाता है। यद्यपि चेतना केवल मनुष्य की ही अधिकारिक अथवा जातीय सम्पत्ति नही है अपितु अत्याधिक रूप से यह सभी सजीव में वर्तमान होती है। गैर-मानवीय सजीवो की चेतनता उनके जातीय मस्तिष्क के संवेगीय संचरण के अनुरूप ही होती है जिसे केवल वे और उनका जातीय समुदाय ही समझ या अनुभूत कर सकता है। यदि मनुष्येत्तर प्राणियों में चेतना का अंतर्वेशन नहीं होता तो उनकी क्रियाशीलता अथवा गत्यात्मकता निरंतर कैसे रह पाती? लेकिन दूसरे प्राणियों से इतर मानवीय चेतना व्यक्तिगत हित-साधन के अतिरिक्त लोककल्याणकारी प्रकृति की भी होती है। चेतनाशील मनुष्य अपने उत्कृष्ट विचारों तथा कार्य-व्यवहारों के द्वारा जहाँ स्वयं की आवश्यकताओं महत्त्वाकांक्षाओं आदि की पूर्ति करता है वही इनके उत्कृष्ट

स्वरूप द्वारा समाज, राष्ट्र फिर जीवमात्र के हित-साधन का भी विचार-व्यवहार रखता है। इसके अतिरिक्त चेतना ही वह घटक है, जो मनुष्य को प्रत्येक क्षण कुछ नया सीखने, नया करने, आगे बढ़ने तथा भौतिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहने हेतु प्रेरित करती रहती है। विषय से विषमतर परिस्थितियों में यही हमारी मार्गदर्शन करती है, इसी के द्वारा प्रादुर्भूत होकर भाव हमें विषय के अनुरूप हँसने, रोने, गाने के लिए प्रेरित करते हैं। अतःस्पष्ट है कि मनुष्य की सम्पूर्ण मनुष्यगत अस्मिता उसके भीतर वर्तमान चेतनता या जागृतता पर ही आश्रित होती हैं। मानवीय सभ्यताओं के विकासक्रम में चेतना की प्रकृति देशकाल और वातावरण के अनुरूप निर्धारित या परिवर्तित होती रही है। लेकिन वर्तमान संदर्भों में जबकि मानव सभ्यता अपने विकास के अंतिम सोपान पर पहुँच गयी हैं ऐसे में चेतना की प्रकृति बहुत हद तक निर्धारित हो चुकी है।

सर्वज्ञात है कि प्रज्ञा और प्रतिभा के संदर्भ में व्यापक लोककल्याण का उद्देश्य रखने वाले साहित्य-सर्जक दैनंदिन मनुष्यों की समतुल्यता में बहुत अधिक समृद्धशाली होते हैं। न केवल इनका उद्देश्य अभिव्यापक आयामो वाला होता है अपितु इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक भाव और विचार भी अत्यधिक समुन्नत किस्म के होते है। जैसा कि उल्लिखित हो चुका है कि चेतना का संदर्भ प्रज्ञा अथवा बुद्धि से होता है जबकि साहित्य सृजन के अनुक्रम में स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा अपने देशकाल एवं वातावरण की परिस्थितियाँ प्रवृत्तियों-चित्तवृत्तियों तथा घटना व्यापारों आदि के चित्रांकन के लिए यथार्थ के साथ-साथ काल्पनिकता का भी सहारा लेना पड़ता है और यह काल्पनिकता सर्जक की प्रज्ञा से ही विपन्न या संदर्शित होती है। इसलिए अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा स्वयं के भावानुभावों तथा विचारों के द्वारा लोकमंगल जैसे व्यापक उद्देश्य को लेकर चलने वाले रचनाकार की उद्देश्यगत सफलता उसकी चेतना की उत्कृष्टता में ही अंतर्निहित होती है। साहित्य-सर्जक की चेतना जितनी अधिक उत्तमोत्तम किस्म की होगी, उसकी रचनाएँ उतनी ही अधिक कालजयी प्रासंगिकता वाली होंगी।

साहित्यकार की उद्देश्यपरक सफलता के लिए चेतना उसे केवल कल्पना शक्ति तथा अभिव्यक्ति क्षमता ही प्रदान नहीं करती है अपितु अभिव्यक्ति एवं विषयवस्तु के चयन की बोधगम्यता भी उपलब्ध कराती है। यदि रचनाकार की चेतना विशिष्ट और विकसित प्रकार की नहीं होगी तो वह अपनी सर्जना के लिए समूचित विषयवस्तु का चयन नहीं कर पाएगा या फिर इधर-उधर के विषयों को उठाकर उन्हें अपनी रचनाओं में व्यवहृत करेगा। जैसा कि कहा जा चुका है कि साहित्यकार का उद्देश्यगत कार्य व्यापक लोकमंगल से सन्नद्ध होता है इसलिए उसका अपनी रचनाओं के लिए कथावस्तु स्वरूप ऐसे विषयों अथवा समस्याओं का चयन करना, जो उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो अत्यधिक आवश्यक होता है। रचनाकार ऐसा तभी कर पाता है जब उसकी चेतना अत्यंत उत्कृष्ट हो तथा उत्कृष्ट चेतना आधार पर की गयी साहित्य-सर्जनाएँ सदैव सार्वकालिक प्रकृति की होती है।

वस्तुतः साहित्य-सर्जक की चेतना उसकी कल्पना शक्ति और उसके द्वारा रचना हेतु लोककल्याणकारी विषयों का चयन आदि सभी कुछ परस्पर सम्बद्ध होता है। साहित्यकार की विशिष्ट चेतना उसमें स्वतः ही कल्पनाशक्ति का समाहार कर देती है और इस कल्पनाशीलता के द्वारा वह अपनी रचनाओं के लिए यथावश्यक विषय का चयन कर लेता है। लेकिन विषयवस्तु के चयन से पूर्व सर्जक को अपने देश काल और वातावरण की संगतियों-विसंगतियो का यथेष्ट अभिज्ञान व परिज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। क्योंकि वह जब तक विसंगतियों, विद्रूपताओं, अच्छाइयों, आवश्यकताओं, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों तथा देशज चित्तवृत्तियों आदि की समूचित पहचान नहीं कर पाएगी तब इन्हे अपनी सर्जनाओं की विषयवस्तु में कैसे सम्मिलित कर पाएगा। संगतियों-विसंगतियों की यह पहचान भी विलक्षण तरह की चेतना पर ही आश्रित होती है। सर्जक की चेतना जितनी अधिक उत्कृष्ट होगी उतनी ही अधिक तीव्रता, यथार्थता तथा स्वाभाविकता के साथ वह सही-गलत की समझ विकसित करते हुए अपनी रचनाओं की विषयवस्तु के माध्यम से संगतियो का वर्णन या यशोगान तथा विसंगतियों का विरोध या प्रतिकार कर पाएगा। क्योकि दर्पण और प्रतिबिम्ब

के संबंधो का सम्यक् निर्वहन करते हुए साहित्य अपनी विषयवस्तु के लिए अपने देशकाल और वातावरण के प्रमाण पर निर्भर होता है तथा प्रत्येक समाज अनिवार्य रूप से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन क्षेत्रों में विभक्त होता है इसलिए स्वाभाविक है कि विषयवस्तु के चयन के लिए साहित्यकार की चेतना भी इन्हीं जीवन क्षेत्री पर निर्भर करती हो। साहित्य में अभिव्यक्त होने वाली विभिन्न जीवन-क्षेत्रों से संदर्भित चेतना को ही चेतना की साहित्यिक प्रकृति कहा जा सकता है। इस तरह से साहित्य-सर्जक यदि मानव-जीवन के सामाजिक पक्ष से अंतर्संबंधित संगतियों-विसंगतियों की अभिव्यक्ति को रचना का विषय बनाता है तो इसे उसकी चेतना की साहित्यिक प्रकृति कहा जाएगा। इसी तरह जीवन के आर्थिक क्षेत्र की समस्याओं, विशिष्टताओं आदि के वर्णन-विवेचन की चेतना की आर्थिक प्रकृति राजनीतिक संगतियों-विसंगतियों के चित्रांकन को चेतना का राजनीतिक स्वरूप, धार्मिक परिस्थितियों-प्रवृत्तियों के उद्घाटन को धार्मिक चेतना तथा सांस्कृतिक जीवन में परिव्याप्त संख्यातीत घटको की अभिव्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना के अंतर्गत रखा जाएगा। इस तरह से उपसंहारात्मक रूप से कहा जा सकता है कि चेतना कुछ और नहीं बल्कि बुद्धि की प्रतीकात्मकता ही है। इसका उत्कृष्टता-निकृष्टता को मनुष्य के बौद्धिक, वैचारिक और मानसिक विकास का मापदण्ड कहा जा सकता है। सामान्य मनुष्यों की समतुल्यता में सर्जक की चेतना सदैव उत्कृष्ट एवं लोककल्याणकारी प्रकृति की होती है। रचनाकार इसी चेतना के आधार पर अभिव्यक्ति की सामर्थ्य और कल्पना शक्ति प्राप्त करता है तथा इसी के माध्यम से वह अपनी सजनाओं के लिए विषयवस्तु का चयन भी कर पाता है। उसके द्वारा अपने देशकाल और वातावरण के जिस जीवन क्षेत्र से रचना के लिए विषय का चयन किया जाता है उसी जीवन क्षेत्र को चेतना की प्रकृति अथवा स्वरूप कहा जाता है। दरअसल किसी साहित्यिक अथवा कलागत रचना का समस्त ताना-बाना चेतना रूपी धागे से ही बना होता है।

2.1 चेतना का अर्थ और परिभाषा

चेतना की जागतिक प्रकीर्णता सृष्टि के प्रत्येक सचराचर तक असमान प्रकृतियों में असमान सोपानों के साथ स्वाभाविक रूप से देखी जा सकती है। संसार की जड़वस्तुओ मसलन, पर्वतों, घाटियों, उपत्यकाओं आदि की चेतना जहाँ सुसुप्तावस्था में होती है वही वनस्पतियों, लता-प्रतानो, नदियों, तालाबों व पोखरों आदि की चेतना भी निश्चेतन किस्म की होती है। इस तरह पशु और अन्य मनुष्येत्तर जीवधारियों की चेतना अर्ध-चेतन प्रकार की होती है। इन सभी सांसारिक घटको में से मनुष्य ही एकमात्र ऐसा जागतिक अवयव है जिसकी चेतना आत्म-चेतन चिद्-विन्दु द्वारा निर्मित होती है इसलिए मनुष्य की चेतना दूसरे सचराचरों की समतुल्यता में विलक्षण किस्म और महत्त्वपूर्ण स्तर की बनाती है। तथा उत्कृष्टता में भी अनन्य बन जाती है। दरअसल मनष्यु की चेतना अपूर्णता अथवा जड़ता से पूर्णता अथवा गतिशीलता की ओर अग्रसर होती है। चेतना अपनी दीर्घकालिक विकासयात्रा में निश्चेतनता एवं अर्द्धचेतनता से होती हुई आत्म चेतना के जिस सोपान पर पहुँचती है उसे ही मनुष्य की चेतना कहा जाता है। इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि चेतना की अंतिम विकासात्मक अवस्था ही मनुष्य की चेतना कहलाती है।

मनुष्य का जन्म या तो इसी उत्कर्षी चेतना को प्राप्त करने या फिर पहले से ही वर्तमान स्वयं के भीतर की चेतना को उत्कर्षी बनाने में प्रयत्नशील रहता है जिसमें वह अंधकार से प्रकाश, सूक्ष्म से विशाल, भेद से अभेद तथा संकीर्ष से विस्तीर्ण चेतनता का एक अनुसंधानकर्ता मात्र प्रतीत होता है। उसकी यज्ह चेतना परिमाण में ही नहीं अपितु अपनी प्रकृति में भी मनुष्येत्तर जीवो की चेतना से भिन्न होती है। दूसरे जीवधारियों की चेतना अधिकांशतःचक्षुन्द्रियों अथवा कुछेक अन्य इन्द्रियों तक ही संकुचित होती है जबकि मनुष्य की चेतना ज्ञानेन्द्रियों के साथ-साथ साथ-साथ स्वानुभूतियों तथा अपने देशकाल की परिस्थितियों-प्रवृत्तियों से भी संदर्भित होती हैं। वस्तुत: चेतना की उत्कर्ष तक ले जाने की समय प्रक्रियात्मक यात्रा में मनुष्य अपने इन्द्रियजन्य ज्ञान का अनुभव व्यापार के साथ ही तादात्म्य स्थापित कर दिखाई देता है। यहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान से अभिप्राय ज्ञानेन्द्रियों की

स्थिति तथा अनुभवजन्य व्यापार का तात्पर्य परिवेशगत ज्ञान से है। इन दोनों के मध्य यथेष्ट सामंजस्य संस्थापित होने के बाद ही चेतना का उत्कर्षी देशाटन संपन्न होता है। जिसके माध्यम से मनुष्यों में सामूहिक जीवन जीने की कला एवं सामर्थ्य विकसित होती है। इस तरह से यदि कहे तो कह सकते हैं कि दूसरे प्राणिधारियों की समतुल्यता में मनुष्य के लिए चेतना की भौतिक और मानसिक महत्ता विशेष प्रभावोत्पादकता रखती है। यह न केवल मनुष्य को मनुष्य होने का संज्ञात्मक अभिधान प्रदान करती है बल्कि उनकी समग्र अस्मिता और अस्तित्व का भार भी निर्वहन करती है। इस समय प्राकृतिक विधान एवं घटना-क्रम से मनुष्य भी भलीभांति अवगत होता है इसीलिए वह अपने और अपनी जाति के लिए चेतना के महत्व को समझता है। वह चेतना के माध्यम से ही सांसारिक घटनाक्रम तथा सामाजिक स्थितियों-परिस्थितियों आदि की बोधगम्यता के साथ-साथ एतद्विषयक मीमांसकीय प्रवृत्ति भी डेवलप करता है, विभिन्न प्राकृतिक मानव-निर्मित क्रिया-कलापों में भाग लेता है और अपने मनुष्य होने को विविध तरीको से प्रामाणित भी करता है। अतःस्पष्ट है कि चेतना एक परिधीय जागतिक विस्तीर्णता है जिसके केन्द्र में मनुष्य होता है और यह अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप में सदैव से ही मनुष्य में वर्तमान रही है। शिक्षा, साहित्य, कला, विज्ञान, तकनीकि, अनुसंधान, प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, संचार, आदि क्षेत्रों में जो वर्तमान संसार की जो वर्तमान उन्नति दिखाई दे रही है यह नित्य प्रति उत्कर्ष की ओर अग्रसर मानवीय चेतना का ही परिणाम है। अपनी वह विद्यमानता में मनुष्य की अस्मिता समेटे चेतना बोध प्राप्ति की एक प्रक्रिया है। क्योंकि यह निरंतर गतिशील है और देशकाल के अनुरूप अपना स्वरूप भी परिवर्तित करती रही है इसलिए इसकी अर्थवत्ता का निर्धारण या इसे पारिभाषित करना अत्यंत जटिल हो जाता है लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के इस युग में मनुष्य की चेतना अपने विकास के उस सोपान तक पहुँच गयी है जहा ॅ ं से उसके द्वारा चेतना शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ इसकी परिभाषा एवं स्वरूप आदि के विषय में बहुत कुछ साफ-साफ दिखाई देने लगा है।

चेतना का अर्थ-

मूलतःतत्सम शब्द की प्रकृति वाले शब्द 'चेतना' की व्यूत्पत्ति संस्कृत की चित् धातु में कर्ता की अर्थवत्ता वाले 'ल्यप' प्रत्यय के संयोजन से 'चेतन' शब्द का निर्माण हुआ। इसी 'चेतन' शब्द में 'आ' प्रत्यय का योग करने पर 'चेतना' शब्द निर्मित हुआ। संस्कृत की मूल धातु 'चित्' का अर्थ बुद्धि, अनुभूति, धारणा, समझ, मनोवृति, एकाग्रता एवं भावना आदि होता है तथा इसमें लगने वाला 'ल्यप' प्रत्यय करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है इस तरह से 'चेतन' शब्द का अर्थ हुआ भावना करना, अनुभूति करना, धारण करना, समझा करना और बुद्धि करना आदि। इस चेतन शब्द में जब 'आ' प्रत्यय और जुड़ जाता है तब इस नवनिर्मित 'चेतन' शब्द का अर्थ प्रयुक्त क्रिया-व्यापारों की व्यापकता का बोधक बन जाता है। धर्मेंद्र कुमार गुप्त ने अपने द्वारा संपादित संस्कृत हिंदी शब्दकोश में चेतना शब्द का विग्रह करते हुए इसका व्युत्पत्ति पारक अर्थ अग्रलिखित प्रकार से दिया है "चित्+ल्यप टाप इसका अर्थ बुद्धि, समझ, सजीवता, चेतना होता है।" चेतना शब्द के अर्थ की आयामगत परिधि अत्यधिक व्यापक है तथा चेत, होश, संज्ञा, ज्ञान, मनोदशा, सुधबुध, बोध, विचारना, समझना, स्मृति, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, जागरूकता, सोचना, ध्यान देना और सम्हालना आदि इसके समानार्थी अथवा पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत होते है। अंग्रेजी भाषा में चेतना के लिए Consciousness शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसकी व्यत्पत्ति conscious या conscire शब्द से मानी जाती है, जिसका अर्थ सचेत या अभिज्ञ होता है। Consciousness के अतिरिक्त Awareness शब्द भी चेतना का पर्याय माना जाता है जिसका अर्थ जागरुकता होता है। अंग्रेजी भाषा की दृष्टि से देखे तो क्योकि consciousness एवं awareness परस्पर समानार्थी शब्द के रुप में प्रयुक्त होते हैं इसलिए इनके क्रमश: स्वतंत्र अर्थ चेतना और जागरूकता को भी परस्पर समानार्थी शब्द ही समझना चाहिए।

इसी तरह से नवल जी द्वारा सम्पादित नालंदा विशाल शब्दसागर में भी चेतना का अर्थ- "बुद्धि, मनोवृत्ति, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, स्मृति, सुधि, चेतना व होश" आदि दिया गया है। जैसा कि विवेच्य अध्याय की पूर्वपीठिका में ही वर्णित हो चुका है कि चेतना का सम्बंध प्राणियों के मस्तिष्क में होता है न कि आँखों से। दृश्येन्द्रियों की जगह चेतना ज्ञानेन्द्रियों से ही अंतर्संबधित होती है इसलिए यह मनुष्य की वह अवस्था होती है जिसमे वह सचेत जागरूक अथवा होश में रहता है। किसी समय विशेष में मनुष्य की दृश्येन्द्रियाँ किसी वस्तु, पदार्थ या कार्य विशेष पर केन्द्रित होती है लेकिन फिर भी उस समय मनुष्य अन्यमनस्क रहते हुए किसी दूसरे संदर्भ में विचाराधीन रहता है। ऐसे में उसकी यही अन्यमनस्कता अथवा दृश्येन्द्रियों की अवज्ञा चेतना कहलाती है, जो कि द्रष्टव्य की अपेक्षा अनुभूत या ज्ञानेन्द्रियों के अधिक सन्निकट होती है। दरअसल चेतना मन की एक स्थिति ही होती हैं जिसके अंतर्गत भौतिक जगत के प्रति संवेनशीलता, तीव्र भावानुभूति का आवेग, चयन अथवा निर्माण की शक्ति के साथ-साथ अपने देशकाल और वातावरण की परिस्थितियों, घटनाओ क्रिया-व्यापारो आदि के ज्ञान के प्रति चिंतन विद्यमान रहता है जिनके सम्मिलन से संदर्भित मनुष्य की चेतना निर्मित होती है। यही चेतना उस व्यक्ति की चैतन्य अवस्था कहलाती है। चेतना की वर्तमानता से ही मनुष्य की क्रियाशीलता का निर्धारण होता है। वैसे तो अपनी व्यापक एवं अटलस्पर्शी अर्थवत्ता के दृष्टिगत 'चेतना' शब्द की सम्पूर्ण व्याख्या-विवेचना एक स्वतंत्र अध्याय के अंतर्गत ही संभव हो सकती है लेकिन फिर भी यदि साधारण संदर्भों और सामान्य अर्थों में 'चेतना' शब्द का अर्थ निकाला जाए तो स्पष्टतःपरिलक्षित होता है कि यह फिर से ही संदर्भित होता है अर्थात् चित् की ही समस्त अनुक्रिया-प्रक्रिया एकीकृत रूप से चेतना कहलाती है। यहाँ 'चित्' शब्द को लेकर भ्रमित नहीं होना चाहिए क्योंकि यह कुछ और नही बल्कि पूर्व में अभिकथित प्रज्ञा, बुद्धि, भावना तथा विचार आदि की बोधक ही है। इसी तरह से यदि दार्शनिक संदर्भों में देखे तो 'चेतना' शब्द मन के सबसे निचले तल का बोधक होता है अर्थात् मन की अंतिम सघनतम अवस्था को दर्शनशास्त्र चेतना कहकर

सम्बोधित करता है। जैसा कि पहले ही उल्लिखित हो चुका है कि 'चेतना' मनुष्य की बुद्धि के विकास का एक मानदण्ड है। यहाँ इसकी दार्शनिक अर्थवत्ता भी यही प्रार्दूभाषित कर रही है जिसके अनुसार मन की अत्यधिक गहराई ही चेतना कहलाने की अधिकारिणी हो सकती है।

'चेतना' की व्यूत्पत्ति एवं अर्थवत्ता निर्धारण के संदर्भ में किए गये उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर उपसंहारात्मक रूप से कहा जा सकता है कि चित् धातु में ल्यप या ल्यूट (अन) प्रत्यय के योग से इसकी उत्पत्ति हुई है जिसका मानवीय संदर्भ में अर्थ परिवेशगत और स्वयं प्रकाश ज्ञान होता है। इसमें भी परिवेशगत ज्ञान अनुभूतियों से तथा स्वयं प्रकाश ज्ञान दृश्येन्द्रियों अथवा ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध होता है। चेतना को अंग्रेजी में Conscious कहते हैं जिसका अर्थ चेतना अथवा जागृतता होती है। हिंदी भाषा में 'चेतना' शब्द की सैद्धांतिक व्याख्या करने वाला शब्द 'अंत:प्रज्ञा' है। इसी तरह इसका दार्शनिक पक्ष मन की उत्कर्षी अथवा अस्पर्शी अवस्था से संदर्भित होता है।

परिच्छेद के आरम्भिक प्रकरण में 'चेतना' शब्द की अर्थवत्ता का विवेचन-विश्लेषण करने के अनुक्रम में इसकी आयामिक विस्तीर्णता को मनुष्य के मानसिक धरातल से सम्बद्ध बताया जा चुका है। यह एक नैसर्गिक सिद्धांत है कि इस भौतिक जगत में वर्तमान किसी भी चर-अचर को पारिभाषिक प्रकृति में किन्ही वाक्यो अथवा वाक्य संगठनो विशेष द्वारा तभी आबद्ध किया जा सकता है जबकि उसकी प्रतीकात्मक शब्द राशियों की अर्थगत संरचना एवं संरचनात्मक प्रवृत्तियों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है। सरल शब्दों में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि किसी शब्द के पूर्ण अर्थ की बोधगम्यता के बगैर न तो उसशब्द को और न ही उससे अंतर्संबंधित किसी सचराचर को पारिभाषित नहीं किया जा सकता है। कारण यह है कि शब्द के अर्थ में जहाॅं हम किसी संज्ञा या सर्वनाम वाचक शब्दों का अन्वेषण करते हैं वही उसकी परिभाषा के अंतर्गत उनकी सभी प्रवृत्तियों के

बोधक भावार्थो को व्यवस्थित रूप में संग्रहित कर लेते हैं। अंत: स्वाभाविक है कि न अर्थगत विशेषताओं के अनुसंधान क्रम में जैसे हम 'चेतना' शब्द के अनेक अर्थों का अनुसंधान किए है वैसे ही इसकी बहुसंख्यक परिभाषाओं का भी अन्वेषण करें। सर्वज्ञात है कि प्रत्येक मनुष्य को चेतना का स्तर भिन्न-भिन्न होता है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की सोचने, विचारने और समझने की क्षमता पृथक-पृथक होती है इसलिए प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क के लिए विषयों की ग्राह्यता भी पृथक-पृथक होती है।

इसी पृथक्करण सिद्धांत के आधार पर एक ही विषय को अनेक मनुष्य अपने-अपने चेतना के स्तर से समझने-समझाने का प्रयास करता है जिससे उस विषय के अनेक पक्ष या अर्थ निकल कर सामने आते है चेतना की परिभाषा के संदर्भ में भी यही नैसर्गिक सिद्धांत लागू होता है। चेतना को भी विभिन्न पृष्ठभूमियों से अंतर्संबंधित असंख्य विचारकों, चिंतकों, दार्शनिको और भाषा-वैज्ञानिकों आदि की चेतना ने अपने-अपने स्तर के हिसाब से समझा, तदोपरांत इसे उसी समझ के अनुसार पारिभाषित भी किया। यही कारण है कि चेतना संबंधी विभिन्न विद्वानों और विचारकों की संख्यातीत परिभाषाएँ अस्तित्वान दिखाई देती है जिनका वर्णन-विश्लेषण अग्रलिखित प्रकार से है-

चेतना की परिभाषाएँ-

आधुनिक मनोविज्ञान के जनक एवं पाश्चात्य विचारक सिगमंड फ्रायड का मानना है कि- "मानव क्रिया-व्यापार व्यवहार से संबंधित है। जो प्रतिक्रियाएँ विचारगम्य है, सामाजिक नियम-परम्परा से बंधी हैं नीति-अनीति भाव से संचालित है वे इस सिद्धांत से परिचालित होती है।" अर्चना जैन के शब्दों मे- "चेतना सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों का संग्रहालय है। डिक्शनरी ऑफ फिलोसॉफी की मान्यतानुसार- "चेतना वस्तुनिष्ठ यथार्थ पर चिंतन का सर्वोच्च स्वरूप है जो केवल मनुष्य में पायी जाती है। चेतना उन सभी मानसिक क्रियाओं का योग है जो सक्रिय रूप से सहायक होती है। चेतना का जन्म मनुष्य की सामाजिक उत्पादन

प्रक्रिया से होता है और यह भाषा से जुड़ी होती है। मनुष्य एक ऐसे संसार में जन्म लेता है जहाँ उसके पूर्वजों द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण किया गया है। मनुष्य इन वस्तुओं का विशिष्ट उद्देश्य के लिए प्रयोग करता है। इसके प्रयोग के लिए मनुष्य अपनी समझ को विकसित करता है। इसी के साथ मनुष्य में चेतना का भी विकास होता है।"

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में- "चेतना मन का छोटा सा द्वीप समझा जाने लगा जिसमें मन की तुलना एक बड़े सागर से की है जिसमे चेतना एक छोटा सा द्वीप है। चेतना विचारशील है तर्कयुक्त है और नीति-अनीति का भाव इसमे सदा रहता है इसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, अनुभूतियाँ विचारगम्य होती हैं।" इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका चेतना के संदर्भ में लिखती है कि- "वह शक्ति जिसमे मस्तिष्क को अपने आप के अस्तित्व और मानसिक घटना-प्रक्रियाओं के प्रति बोध होता है। यह प्राणियों की उस स्थिति को व्यक्त करती है, जिसमें व्यक्ति अपने आप के अस्तित्व और मानसिक घटनाओं और स्थितियों के प्रति जागरुक रहता है।" कोशकार अग्निहोत्री "जीवन शक्ति, पौरुष, आकलन-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और जीव" गर्व को ही चेतना मानते हैं।

आधुनिक विचारक वाडेकर प्राणशक्ति एवं मानसिक शक्ति के समन्वय को ही चेतना मानते हुए लिखते है कि- "चेतना विश्व को नियंत्रित करने वाली श्रेष्ठ आत्मिक शक्ति की आंशिक पुर्नर्निर्मित है।" मंजूर सैय्यद की मान्यतानुसार- "दर्शन में चेतना एक मानसिक, बौद्धिक उच्च शक्ति है। व्यावहारिक रूप में यह व्यवहार के मर्म की खोज है, जिसके माध्यम से विशद मानव वृत्तियों एवं गुणों का ज्ञान होता है। सामाजिक संबंधों, सामाजिक व्यवहारों के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त करना कि सामाजिक चेतना का उद्घाटन है। मानव चेतना अपने इर्द-गिर्द के विभिन्न परिवेश से संबंधित घटनाओं को घटनाओं से संबंधित स्मृतियों को अनुभूत कर लेती है लेकिन उस अनुभूति को पानी के बुलबुले के समान कह सकते हैं जो कुछ क्षण मात्र के लिए निर्मित होता है एवं तुरंत लुप्त हो जाता है। उसी प्रकार मानव चेतना

में विचारों का चक्र स्थिर नहीं होने से तुरंत परिवेश से संबंधित अनुभूतियाँ, स्मृतियाँ परिवर्तित अथवा लुप्त हो जाती है। चेतना की गति अनंत है। इस गति को विभक्त नहीं किया जा सकता, केवल उस व्यक्ति के अंतर्मन की गतिविधियों द्वारा जाना जा सकता है।"

साहित्यकार इलाचंद जोशी की चेतनानुसार- "चेतना शरीर से महत्वपूर्ण है पर शरीर के बिना चेतना संबंधी अनुभूति नहीं हो सकती। शरीर के भीतर मस्तिष्क है और मस्तिष्क के कोषों में ही प्रकट में लौकिक और अलौकिक अनुभूतियों की चेतना निहित है।"

अर्थ एवं परिभाषा के संदर्भ में अब तक किए गए विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट है कि चेतना मनुष्य के गुणवान होने का सर्वाधिक सबल प्रमाण है। इसके अभाव में मनुष्य किसी ऐसे निर्जीव से अभिन्न हो जाता है वायु और जल के वेग में स्वयं को धारा के अनुरूप प्रवाहित करता रहता है। मनुष्य की अनुभूतियाँ, विचारशीलता, नीर-क्षीर का विवेक, विशिष्टता, प्रभावोत्पादक आदि प्रवृत्तियाॅं चेतना के कारण ही प्रादुर्भूत होती है। इदं, अहम और पराअहम ये चेतना की तीन अवस्थाएँ तथा चेतन, अवचेतन एवं अचेतन तीन स्तर होते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में भी चेतना की आधारिक भूमिका होती है। साहित्य बहुत हद तक सामाजिको की चेतना का निर्माता, नियंत्रक तथा परिवर्तक होता है। साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के उपरांत जब समाज के एक बहुत बड़े भाग की चेतना अथवा बुद्धि में व्यापक बदलाव आ जाता है या दृष्टिगोचर होने लगता है तब उसे ही सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है, जिसमे मानवीय क्रियाकलाप, विचार, व्यवहार आदि अमूल-चूल रूप से परिवर्तित हो जाते है। दृष्टांत स्वरूप भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के समय छायावाद एवं राष्ट्रीय-सांस्कृति काव्यधारा की कविताओं को पढ़कर लोगो में चेतना स्वरुप राष्ट्रीयता की भावना अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो गयी थी।

तद्युगीन परिस्थितियों में भारतीय जनमानस की चेतना को बदलने अथवा उसे जाग्रत करने में छायावाद युगीन तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान

रहा है। यदि उस समय ओज रस पूर्ण अथवा क्रांतिकारी प्रकृति वाली कविताओं की रचना नहीं की जाती तो उस समय वे भारतीय समाज को समय सापेक्ष जाग्रत करके उसे राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत करना असंभव था। इससे स्पष्ट है कि भारतीय चेतना को जाग्रत या नियंत्रित करने का कार्य साहित्य ही करता है। साहित्य के माध्यम से ही चेतना की विभिन्न अवस्थाओं, प्रकृतियों आदि का प्रादुर्भाव तथा विकास होता है इसलिए साहित्य चेतना की स्थिति का अध्ययन-अनुशीलन करने से पूर्व चेतना की सैद्धांतिकी का अन्वीक्षण-परीक्षण अपरिहार्य हो जाता है।

2.2 चेतना का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक संदर्भ

चेतना की समस्त सैद्धांतिकी अर्थात् इसकी अर्थवत्ता का समग्र ढाँचा दर्शन और मनोविज्ञान के सिद्धांतों पर ही स्थित है। दरअसल चेतना मानव मन और मस्तिष्क से संदर्भित है तथा मन और मस्तिष्क की सर्वाधिक यथार्थवादी एवं उत्कृष्ट विवेचना दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है या फिर की गयी है। चेतना का दार्शनिक संदर्भ भारतीय न्याय एवं मीमांसा प्रणाली के सर्वाधिक समीप रहा है। कारण यह है कि दूसरे सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों की समतुल्यता में दर्शनशास्त्र के अध्ययन-अनुशीलन की परम्परा हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। जब विश्व की दूसरी सभ्यताओं को शिक्षा एवं ज्ञान के नाम दैनंदिन व्यवहार की बातों की भी जानकारी नहीं थी तब भारतीय संस्कृति और सभ्यता ब्रह्माण्ड जैसे गूढ़ातिगूढ़ विषय को दार्शनिक दृष्टि से विवेचित-विश्लेषित कर रही थी। भारतीय संस्कृति और सनातन हिन्दू धर्म-ग्रंथों में जहाँ प्रत्येक सचराचर को दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर व्याख्यायित किया गया है वही एक स्वतंत्र विषय के रूप दर्शनशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन भी हमारे यहाँ गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के समय से ही होता रहा है।

दरअसल भारत संस्कृत भाषा एवं आध्यात्य का देश रहा है। देवभाषा संस्कृत आध्यात्म से अंतर्संबधित है और इन दोनों के आपसी संबंधों को स्थायित्व दिलाने में दर्शनशास्त्र की महती भूमिका रही है। कारण यह है कि भारत का आध्यात्म युगो पूर्व कह चुका था कि प्रत्येक जागतिक चर-अचर का एक दार्शनिक पक्ष होता है जिसे आज के प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान भी स्वीकार करते हैं। आध्यात्म का मन से घनिष्ठ संबंध होता है बल्कि दोनों एक ही कहे जा सकते हैं। मन को नियंत्रित करना ही तो आध्यात्म है। आध्यात्म की चर्चा-परिचर्चा धर्मशास्त्र के अंतर्गत होती रही है तथा पुरातन धर्मशास्त्र संस्कृत भाषा में ही विरचित है इसलिए हमारे यहाँ दार्शनिकता आध्यात्म और संस्कृत भाषा में एक आधारिक संबंध दिखाई देता है। यहाॅं यह स्मरणीय है कि दार्शनिकता और दर्शनशास्त्र में पर्याप्त विभेद होता है। दार्शनिकता एक सिद्धांत है जो संसार के भी प्रत्येक विषय, वस्तु, घटना-व्यापार, प्राणी आदि की होती है। इसे इस तरह से समझना चाहिए की संसार में विद्यमान प्रत्येक भौतिक-अभौतिक, प्राकृतिक अथवा मानव निर्मित, बृहदकाय या लघु आकार के जीवित अथवा मृत्यु सचराचर का एक दार्शनिक पक्ष अनिवार्यत: होता है।

जबकि दर्शनशास्त्र एक स्वतंत्र विषय है और इसकी परिधीय व्यापकता दार्शनिकता की समतुल्यता में बहुत कम होती है। क्योकि 'चेतना' संस्कृत भाषा का ही शब्द है, जिसकी आदि उत्पत्ति आध्यात्म से ही हुई है इसलिए इसकी अर्थवत्ता का भी एक दार्शनिक संदर्भ रहा है। वस्तुत: हमारे यहाँ धर्मशास्त्रो में मन की स्थिति, स्वरूप, मस्तिष्क की कार्यप्रणाली, भाव, विचार निर्माण की प्रक्रिया आदि का आध्यात्म के अंतर्गत सुक्ष्मातिक्ष्म विवेचन-विश्लेषण होता रहा है। मन, बुद्धि, प्रज्ञा, मस्तिष्क आदि सभी चेतना से ही संदर्भित है। इस दृष्टि से चेतना की मीमांसा भी हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन है। जिस तरह से सदियों पूर्व हम दर्शनशास्त्र और आध्यात्म के अंतर्गत मस्तिष्क और हृदय की कार्य-प्रणाली का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन-अनुशीलन करते रहे हैं ठीक उसी तरह से दूसरे देश विशेषकर

पाश्चात्य भू-भाग के देश मनोविज्ञान के अंतर्गत मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया को समझने-समझाने का प्रयास करते रहे हैं।

सामाजिक विज्ञान की एक प्रशाखा के रूप मे मनोविज्ञान का अस्तित्व आधुनिककाल की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही माना जाता है जब सन् 1879 ई॰ में विल्हेल्य बुल्ट ने दर्शनशास्त्र से मुक्त करते हुए इसकी प्रथम प्रयोगशाला स्थापित की। इससे पूर्व पश्चिम में भी भारत की देखा देखी मन की क्रियाओ, अनुभवों आदि का अध्ययन-विवेचन दर्शनशास्त्र के अंतर्गत किया जाता था। एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान के अस्तित्व में आ जाने के बाद मनुष्य एवं अन्य प्राणियों के अनुभवों, अनभूतियों, मानसिक प्रक्रियाओं तथा व्यक्त और अव्यक्त अर्थात् कायिक व मानसिक व्यवहारों आदि की व्याख्या-विवेचना इसी के अंतर्गत होने लगी। दरअसल मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान हैं जो क्रमबद्ध रूप से विभिन्न जीवधारियों के प्रेक्षणीय व्यवहारों का अध्ययन-अनुशीलन करते हुए प्राणियो की आंतरिक क्रियाओ एवं बाह्य प्रक्रियाओं अर्थात् मानसिक और शारीरिक क्रियाकलापो जैसे- चिन्ता, भाव, विचार आदि को परिवेशगत घटनाओं से संदर्भित करते हुए उनका विवेचन-विश्लेषण करता है। इन मानसिक प्रक्रियाओं में संवेदन, अवधान, अधिगम प्रत्यक्षण, स्मृति व चिंतनीयता आदि शामिल होती हैं तथा इन्ही अर्थों में मनोविज्ञान को मानसिक क्रियाकलापों के अध्ययन का विज्ञान कहा गया है। इस तरह से 'चेतना' की प्राचीन एवं भारतीय सम्बद्धता दार्शनिकता से रही है वहीं आधुनिक तथा पाश्चात्य संदर्भों में यह मनोविज्ञान से अंतर्संबधित रही है। यहाँ इन दोनों संदर्भों में चेतना की स्थिति-परिस्थिति का अध्ययन-अवलोकन किया जा रहा है।

दार्शनिक पक्ष-

मनुष्य अपने प्राकृतिक परिवेश मे संख्यातीत वस्तुओं, घटनाओं, क्रियाकलापों आदि को देखता है अथवा उन्हें अनुभूत करता है स्पर्श करता है। इनमें से कुछ वस्तुएँ सजीव या

निर्जीव मूर्त या अमूर्त अवश्य होती है। सजीव या मूर्त वस्तुओं की विकसनशीलता अधिक-अधिक उत्तेजक किस्म की होती है यथा- भ्रूण से पूर्व मनुष्य का विकास, बीज से वृक्ष का निर्माण आदि इसी विकास प्रक्रिया को चेतना का दार्शनिक संदर्भ समझना चाहिए। भारतीय दर्शन के अनुसार चेतना के कारण ही वस्तुओं, प्राणियों या वृक्षो में किसी तरह का परिवर्तन अथवा विकास संभव हो पाता है। इस तरह से दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार इस संसार मनुष्य सहित प्रत्येक सचराचर की गत्यात्मकता के लिए चेतना की आधारिक आवश्यकता होती है। इसी चेतना को उत्कृष्ट प्रकृति का संयोजक होने के कारण मनुष्य समग्र सृष्टि का उपभोक्ता एवं नियंत्रक बन बैठा है। भारतीय दर्शन के संदर्भ में यदि चेतना की स्थिति का अध्ययन-अवलोकन करें तो स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि हमारे यहाँ वेदो से लेकर उपनिषदों तक चेतना का अध्ययन-अनुशीलन दार्शनिक दृष्टि से तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को व्याख्यायित-विश्लेषित करना अपेक्षित रहा है। बौद्ध, जैन, चर्वाक, अद्वैत, न्याय, वेदान्त, वैष्णव आदि ऐसे संख्यातीत सम्प्रदाय हमारे यहाँ रहे है जिन्होने जो चेतना की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दार्शनिक विवेचन बड़े इत्मीनान के साथ की है। साम्प्रदायिक विवेचनापरांत चेतना के अनेक पक्ष अनावरित हुए हैं उन सभी का समग्र विवेचन यहाँ सम्भव नहीं हो सकेगा लेकिन चेतना के संदर्भ में इन दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रमुख सिद्धांतों और विचारो पर संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेने मात्र से भी हमारे एतद्विषयक उद्देश्य की पूर्ण प्राप्ति हो जाएगी।

प्रथमतः उपनिषदों की बात करें तो इनमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन संदर्भ में चेतना को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। उपनिषदों में 'चेतना' शब्द को आत्मा, विशुद्ध, चैतन्य ब्रह्मा के पर्याय के रूप में व्यवहृत किया गया है जहाँ ये सभी शब्द परस्पर अनुभाविक जीव से पृथक हैं। इनमें 'मै' की चेतना के साथ-साथ निरन्तर विकसनशीलता, परिवर्तनशीलता तथा सविषयकता से युक्त देशकाल की चेतना अंतर्निहित होती है। आत्मा, इन्द्रिय, शरीर, मन, बुद्धि से परे एक अलौकिक, अविनाशी एवं अगोचर

तत्व है जबकि चेतना विशुद्ध विषयी शुद्ध द्रष्टा है। यद्यपि यह प्रत्येक तरह की जानने संबंधी क्रियाओ के मूल में होती है लेकिन ज्ञेय विषय से नितांत: असंपृक्त व अलग होती है। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य भी तो कहते हैं कि सब कुछ जानने वाले विशुद्ध ज्ञाता को ज्ञेय की प्रकृति में नहीं जाना जा सकता है-

"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात?

विज्ञातरं अरे ! केन विजानीयात?"

इसी तरह से केनोपनिषद में आत्मा को न तो ज्ञेय विषय के अंतर्गत रखा गया है और न ही अज्ञेय, बल्कि वहाँ यह ज्ञेय से पृथक और अज्ञेय या अविदित से ऊपर कही गयी है- "अन्य देव तद् विदितादधो अविदिता दधि" अर्थात् आत्मा इन्द्रिय, वाणी, बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है इसलिए यह मनोवृत्ति का विषय नहीं बन सकती है। अत: केनोपनिषद के अनुसार आत्मा या चेतना अपरोक्ष अनुभूति का विषय है और यदि इसके संदर्भ में कुछ कहा जाता है तो वह नेतिन्नेति है। केनोपनिषद से इतर माण्डूक्य उपनिषद में आत्मा को तुरीय या शुद्ध चैतन्य कहते हुए जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति आदि को इसके अभिव्यक्ति की व्यावहारिक अवस्थाएँ कहा गया है। अपनी जाग्रत अवस्था में ही आत्मा या चेतना जगत के भौतिक पदार्थों का अनुभव करती है जबकि स्वप्न में मानस पदार्थों का एवं सुषुप्ति की अवस्था में बाह्य व अभ्यांतर के किसी भी पदार्थ का विषय न होने के कारण इसे किसी तरह की अनुभूति इन अवस्थाओं में नहीं होती है इसलिए स्वप्न और सुषुप्ति की आत्मा या चेतना की अज्ञान की दशाएँ कहा गया है। हालांकि सुषुप्ति की अवस्थायें भी आत्मा चैतन्य की साक्षी के स्वरूप में वर्तमान होती है लेकिन ऐसी अवस्था में अविधा से आवरित होने के कारण यह प्रकाशित नहीं हो पाती है।

आत्मा तुरीय या शुद्ध चेतना है तथा समस्त जागतिक प्रपंचों की अधिष्ठाता होते हुए भी यह शान्त, शिव, प्रपंचोपरांत व अद्वैत तत्व है। स्मरणीय है कि उपनिषदों में आत्मा एवं ब्रह्म को एक ही अर्थ में रखा गया है तथा इन्ही की आपसी एकात्मकता का प्रतिष्ठापन उपनिषदीय शिक्षा का सार तत्व है जिनकी अभिव्यक्ति तत्वमसि, अयमात्मा ब्रहम व अहं ब्रह्मास्मि जैसे सैद्धांतिक वाक्यों के द्वारा हुई है। दरअसल जीवात्मा में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित होता दिखाई देता है वही ब्रह्म की प्रकृति में इस समस्त विराट बाह्य जगत में भी व्याप्त है। व्यष्टि की आत्मा ही समष्टि की भी आत्मा है तथा जो पिण्ड मे अंतर्भुक्त है वही- ब्रहमाण्ड में भी अंतर्विहित है। तैत्तरीय उपनिषद भी यही प्रभाषित करता है कि- "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये" इस तरह से सारांशतः कहा जा सकता है कि उपनिषदों की न सैद्धांतिकी के अनुसार चेतना, आत्मा ब्रह्म तथा विशुद्ध चैतन्य आदि सब एक ही है तथा इनमें कोई सैद्धांतिक विभेद नहीं है। इनमें से चेतना ही समस्त जागतिक ज्ञान और अनुभव की अधिष्ठात्री एवं विशुद्ध विषयी है। यह स्वयं प्रकाश ज्ञान की ज्योति है तथा इसी के प्रकाश के चतुर्दिक मनुष्य की समस्त चेतन अवस्थाए चक्कर काटती रहती है अत: इसके विलोपन से वे स्वत: ही विलोपित हो जाएगी।

जड़वाद के पोषक-संरक्षक चार्वाक दर्शन की दार्शनिकता के अनुसार चेतना शरीर का एक गुण मात्र है तथा यह चार जड़ तत्वों- पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि आनुपातिक संयोजन का परिणाम है। चर्वाको का मानना है कि जिस तरह से पान, चूना, कथ्था व सुपारी आदि स्वतंत्र रूप से लालिया विहीन दिखाई देते हुए भी परस्पर सम्मिलित होकर रक्तिम वर्ण उत्पन्न कर देती है ठीक उसी तरह से उपर्युक्त चार महाभूतो के संयोग से चैतन्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है-

"जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यतु दृश्यते।

ताम्बूलपूग चूर्णानां योगादाग इवो स्थितम्।

दरअसल चार्वाक दर्शन चैतन्य को शरीर का एक गुण मानता है तथा यह आत्मा जैसी किसी आध्यात्मिक सत्ता के प्रति अविश्वासी होता है। इसके अनुसार आत्मा शरीर से संपृक्त होती है तथा चैतन्य युक्त शरीर ही आत्मा कहलाती है। आत्मा या चेतना संबंधी चार्वाक दर्शन की सैद्धांतिकी से असहमति रखते हुए अद्वैतवादी आचार्य शंकर चेतना को भूतों का धर्म (गुण) नहीं बल्कि भूतों को चैतन्य का विषय माना है। इनके यहाॅं आत्मा देह से असंपृक्त है तथा आत्मधर्म शरीर धर्म से विलक्षण किस्क का होता है क्योंकि रूप आदि शरीर के धर्म शरीर के साथ आद्यंत वर्तमान रहते हैं जबकि आत्मा, चेष्टा आदि मृत्यु की अवस्था में शरीर की उपस्थिति में भी अनुपस्थित हो जाते है। वैसे भी चेतना को शरीर का गुण मानना किसी भी दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होता है। कारण यह है कि मुर्च्छा, स्वप्न व निद्रा आदि अवस्थाओं में जीवित शरीर से भी चैतन्य की अभिव्यक्ति संभव नहीं होती है। शरीर से चेतना की अभिव्यक्ति होती है यह सत्य है लेकिन शरीर चेतना का कारण होती है, यह असत्य है।

चन्द्रधर शर्मा का अग्रलिखित कथन भी इसी अभिकथन को अभिपुष्टता प्रदान करता प्रतीत होता है- "हमारी आँखे प्रकाश के बिना नहीं देख पातीं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रकाश दृष्टि का कारण है।" बौद्ध दर्शन आचार्य शंकर के एतद्विषयक अभिमत से पृथक चेतना की कोई नित्य एवं शाश्वत सत्ता स्वीकार नहीं करता है और न ही आत्मा को शरीर का गुण या क्रिया ही माना है। इसके अनुसार आत्मा या चेतना रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पांच स्कन्धो का संघात मात्र है लेकिन फिर भी वह इन पंच स्कन्धों में से कोई भी एक नहीं है और इनसे परे भी नही है बल्कि इन पंच स्कन्धों का पुंज मात्र है। मिलिन्द पन्हो शीर्षक ग्रंथ में इसे ही संघातवाद कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में चेतना की चारों स्कन्धों के साथ समष्टि ही आत्मा कही गयी है। इसी तरह यहाँ चेतना को द्वादश निदान की एक कड़ी के रूप में भी स्वीकार किया गया है जिसका प्रादुर्भाव संस्कार से होता है। यह संस्कार ही मनुष्य के गर्भ एवं उसकी चेतना का कारण होता है जिसके उपरांत ही उसकी शारीरिक एवं मानसिक दशाओं का निर्धारण होता है। बौद्ध दर्शन के आदि

प्रतिपादक महात्मा बुद्ध ने आलम्बन, समनान्तर सहकारी एवं अधिपति नामक चार कारणजन्य आधारों की चेतना की व्युत्पत्ति का प्रमुख कारण बताया है। इससे घट आदि बाह्य विषय ज्ञान के आलम्बन कारण है | क्योकि ज्ञान की प्रकृति इन्ही से निर्धारित होती है। ज्ञान के लिए जिस पूर्ववर्ती दशा की विद्यमानता अपेक्षित होती है और जिसमे ज्ञान में चेतनता आती है वह समनन्तर कारण है। ज्ञान के प्रादुर्भाव के लिए प्रकाश आदि घटक सहकारी कारण है जबकि इंद्रियाँ अधिपति कारण के अंतर्गत आती है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी चेतना की आत्मा का एक गुण माना गया है। इन दार्शनिक मतों के अनुसार चेतनता शरीर या इन्द्रियों का गुण नहीं होकर आत्मा का ही गुण होती है। यद्यपि चेतना आत्मा का गुण तो होती है लेकिन यह गुण अनिवार्य नहीं होता है अर्थात् आत्मा चेतनता एवं अचेतनता दोनों अवस्थाओं की हो सकती है। चेतना विहीन आत्मा को भी चेतना ही कहा जाएगा। इन दार्शनिक अभिमतो के अनुसार चेतना नित्य आत्मा का अनित्य गुण है अर्थात् आत्मा के साथ इसकी विद्यमानता सदैव अपरिहार्य नहीं होती है। मूर्च्छा, निद्रा, स्वप्न आदि की स्थिति में आत्मा चेतना शून्य होती है। ध्यातव्य है कि चार्वाको की भाँति चेतना की गुणवादी व्याख्या करने के बाद भी नैयायिको का एतद्विषयक अभिमत किंचित् विभेद रखता है। चार्वाक दर्शन जहाँ चेतना को जड़द्रव्यों द्वारा उद्द्भूत मानता है वही न्याय और वैशेषिक दर्शन में चेतना आध्यात्मिक द्रव्यों के अधीन बताई गयी है जिसका कारण आत्मा के द्वारा होता है। नैयायिकों के मतानुसार जब, आत्मा मन एवं अन्य इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों के सानिध्य में आती है तभी चेतना का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् न्याय दर्शन में चेतना की उत्पत्ति के लिए एक विशेष शर्त निर्धारित की गयी है जिसके अनुसार आत्मा का जागतिक विषयों से साक्षात्कार आवश्यक होता है। इसी तरह यह सैद्धांतिक चेतना को अर्थ प्रकाशक मानते हुए ऐसी सत्ता बताती है जो सांसारिक विषयों को अभिव्यक्त करती है या फिर उसे ज्ञेय बनाती है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन की भाँति ही मीमांसा दर्शन भी चेतना की यथार्थवादी व्याख्या करते हुए चेतना तथा आत्मा की संबंधगत सैद्धांतिक-आधारिक पृथकता को स्वीकार करता है। आचार्य प्रभाकर न्याय के समान ही आत्मा को अचेतन द्रव्य स्वीकार करते हुए चेतना को उसका आगन्तुक धर्म बताते है जो कि कारण एवं अवस्था विशेष में ही प्रादुर्भूत होता है। उनकी इस सैद्धांतिकी के अनुसार स्वप्न, मूर्च्छा और निद्रा की स्थित में आत्मा चेतना रहित होती हैं। इसकी दृष्टि में चेतना स्वप्रकाश तथा अर्थप्रकाशक दोनो है। अपनी स्वप्रकाश प्रकृति के कारण ही ज्ञान अथवा चेतना विषय को प्रकाशित करने के अनंतर स्वयं भी प्रकाशित हो जाती है तथा इसी के कारण आत्मा भी ज्ञाता के रूप में प्रकाशवान बन जाती है। आचार्य प्रभाकर का चेतना संबंधी यह अभिमत तंत्रीकुटी, प्रत्यक्षवाद के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसके अनुसार ज्ञान में ज्ञेय ज्ञान, ज्ञाता की त्रिपुटी का प्रत्यक्षीकरण होता है। चेतना या ज्ञान स्वप्रकाश है लेकिन नित्य ही है। यह आत्मा का अनित्यगुण है। बाह्य विषयों से संपर्क में आने के उपरांत ही चेतना का अभ्युदय होता है। अतःस्पष्ट है कि आचार्य प्रभाकर चेतना को विषयापेक्षी मानते है।

आचार्य प्रभाकर से इतर आचार्य कुमारिल भट्ट आत्मा तथा चेतना में कर्ता एवं क्रिया का सम्बन्ध मानते हैं। उनकी दृष्टि में चेतना आत्मा की एक क्रिया अथवा उसका परिणाम है लेकिन यह क्रिया भी अनित्य होती है न कि नित्य यही कारण है कि स्वप्न, मुर्च्छा एवं निद्रा आदि की दशा में आत्मा चेतना या ज्ञान से विरक्ति हो जाती है। न्यायायिकों की तरह ही आचार्य कुमारिल भी चेतना या ज्ञान को स्वप्रकाश न मानकर अर्थ प्रकाशक ही मानते हैं। ज्ञान तो स्वप्रकाश है और न ही यह ज्ञाता को ही प्रकाशित करता है, बल्कि यह विषय प्रकाशक मात्र होता है। ये ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय भी नहीं मानते हैं। इनकी दृष्टि में ज्ञान अनुपेय है जिसकी अभिपुष्टि उनके द्वारा प्रतिपादित ज्ञात वाद सिद्धांत करता है। इस सिद्धांत के अनुसार ही पदार्थ का ज्ञान संबंधित पदार्थ में ज्ञातता नामक धर्म का अभ्युदय करता है। इस ज्ञातता के आधार पर ही ज्ञान का अनुमान किया जाता है तथा वह पदार्थ

ज्ञाता द्वारा ज्ञात हो चुका है इसकी प्रतीति की जा सकती है। चेतना के संदर्भ में जैन दार्शनिक चैतन्य को जीव का सामान्यधर्मा मानते है। जैन मतावलम्बियों के दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार जीवों में चैतन्य की वर्तमानता सदैव रहती है लेकिन फिर भी विभिन्न जीवों में चैतन्य की मात्रात्मकता की दृष्टि से अत्याधिक विभेद अवश्य अंतर्भुक्त रहता है। ज्ञान या कैवल्य प्राप्त कर चुका जीव पूर्ण चेतन की अवस्था में रहता है जबकि अचेतन की अवस्था में रहने वाले एकेन्द्रिय अथवा जड़त्व जीवों मे चेतना सुसुप्तावस्था की प्रकृति में विद्यमान रहती है। चेतन तथा अचेतन जीवो के मध्य जो जीव है उनमें चेतना की मात्रात्मकता भिन्न-भिन्न होती है। जैनियों की दृष्टि में चेतना विस्तारवान होती है तथा मनुष्य में इसकी व्याप्ति सम्पूर्ण देह तक होती है लेकिन यह चेतनता जड़द्रव्यों की तरह स्थान न घेरकर प्रकाश की शरीर की संरचना के अनुरूप प्रकीर्णित होती है। दरअसल नैयायिकों की भाँति जैनाचार्य चेतना को विषया पेक्षी नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में यद्यपि प्रकाश दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित तो करता है लेकिन प्रकाश की स्वतंत्र अस्मिता लिए वस्तुओं की सत्ता अपरिहार्य नहीं होती है जैसे वस्तुओं की अनुपस्थिति में भी प्रकाश अपनी ज्योति का प्रस्फुटन करता रहता है वैसे ही जीव को वस्तुओं का ज्ञान अर्थात् चेतना की आवश्यकता हो पड़ती है लेकिन चेतना के लिए वस्तुओं का सम्पर्क अपरिहार्य नही होता है। यदि वस्तुओं का अभाव रहे या वस्तु से चेतना का सम्पर्क न भी रहे तो भी चेतना की सत्ता वर्तमान रहती है।

विशिष्टताद्वैतवादी एवं वैष्णव वेदांती आचार्य रामानुज चेतना को आत्मा का स्वरूप तथा गुण दोनों मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरुप होने के साथ-साथ ज्ञानाश्रय भी है न कि केवल ज्ञानमात्र। प्रभाकराचार्य की भाँति ही रामानुजाचार्य भी यद्यपि चेतना को स्वप्रकाशक और अर्थप्रकाशक मानते हैं लेकिन वे इसे चेतना का आगंतुक अर्थात् अनित्य धर्म न मानकर आत्मा का नित्य धर्म मानते हैं। रामानुज भी चेतना ज्ञान को विषयापेक्षी मानते हैं। उनकी दृष्टि में चेतना आत्मा का गुण होने के अतिरिक्त विषयापेशी एवं सदैव

परिवर्तनशील होती है। अद्वैत वेदांत का नितांत विरोधी आचार्य कपिल का सांख्य दर्शन कैवल्य या चैतन्य को पुरुष या आत्मा का स्वरूप मानता है। सांख्य दर्शन की सैद्धांतिकी न तो जैनाचार्यों की भाँति आत्मा का चेतन द्रव्य मानती है न तो यथार्थवादियों की तरह चेतना को आत्मा का गुण मानती है तथा न ही बुद्धिष्टों की भाँति चैतन्य को प्रवाह मात्र या आत्मा की उत्पत्तिजन्य कारण मात्र स्वीकार करती है बल्कि इसके अनुसार चैतन्य पुरुष की नैसर्गिक प्रवृत्ति है तथा पुरुष चैतन्य का रूप है। कपिल के मतानुयायी चैतन्य को स्वप्रकाश मानते हैं इस प्रकाश से ही जड़ बृद्धि में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। नैयायिकी के प्रतिकूल सांख्यदर्शन भक्ति या मोक्ष की अवस्था में चेतना की अनुपस्थिति को नहीं स्वीकार करता है। उसका मानना है कि मोक्ष या मुक्ति की अवस्था में पुरुष अपने नित्य, शुद्ध व चैतन्य स्वरूप में प्रकाशित होता रहता है। शंकर के अद्वैत वेदान्त में चेतना को आत्मा का स्वरूप कहा गया है अर्थात् चेतना एवं आत्मा में कोई विभेद नहीं है। चेतना ही आत्मा है और आत्मा ही चेतना है। यही अद्वैत वेदांती आचार्य शंकर चेतना को ही एकमात्र तत्व मानते हुए इसे ही ब्रह्म भी बतलाते हैं। उनके अनुसार यही चेतना विभिन्न नामवाची उपाधियों से जीव ब्रहम और ईश्वर आदि रूपों में आभासित होती है। जब अविधा आदि कारणों से विरुद्ध जीव जब शरीर, इन्द्रिय तथा अंत:करण से परिच्छिन्न होता है वह तभी जीव कहलाता है और जीव अल्पज्ञानी एवं सुख-दुखादि का अनुभव कर्ता मात्र है।

आचार्य शंकर के शब्दों में- "अस्त्यात्मा जीवाढयः शरीरेन्द्रिय पंजराध्यक्ष: कर्मफल संबंधी" अर्थात् जीव शरीर एवं इन्द्रिय रूपी पिंजरे का स्वामी या अध्यक्ष तथा कर्मफल से संबंधित है। आचार्य वाचस्पति मिश्र जीव के जीवत्व को अविधा कृत कहते हुए अविधा या अंत:करण से अविच्छिन्न चेतना को ही जीव माना है। उनके अनुसार ब्रहम ही अविधा रूप उपाधि भेद से विभिन्न जीवों में प्रतीत होता है। इसी तरह विधारण्य स्वामी भी अविधा में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ही जीव मानते है जबकि सर्वज्ञात्य मुनि की दृष्टि में अविधा में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर का स्वरूप देता है है और अंत:करण में उसी चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव

का स्वरूप होता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि अविधा के कारण ही जीव संसार में दुख की प्रतीति करते हुए शरीर में आत्मभाव की प्राप्तकर 'मैं दुखी हूँ' इस प्रकार के अविधाकृत दुख का उपयोग करता है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिको ने विशुद्ध चैतन्य को ही अविधा की उपाधि से विभूषित होने के कारण जीव के रूप में प्रतीत होना बताया है। यह जीव अविधा के आवरण एवं विक्षेपक शक्तियों से आबद्ध होता है। जीवों में अज्ञानजन्य कर्ता एवं भोक्ता दोनों की स्थितिया ँ ँ, विद्यमान होती है जिनके आधार पर वह स्वयं को कर्ता अथवा सुख-दुख रूपी कर्मफल का भोक्ता बनता है। जीव अहंकार से युक्त अल्पज्ञ तथा इन्द्रिय अंतकरण से संकुचित होता है लेकिन अविधा के विलोपित होते ही यह विशुद्ध चैतन्य रूप में प्रकाशित होने लगता है।

भारतीय दर्शन में, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीयावस्था ये चेतना की चार अवस्थाएं मानी गयी हैं। इनमें से अग्रलिखित तीन अर्थात् जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति चेतना व्यावहारिक अवस्थाएँ हैं जबकि चौथी तुरीयावस्था इसकी परमार्थिक अवस्था है। चेतना की प्रथम या जाग्रत अवस्था में जीवन अपने शरीर एवं इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करता है। जाग्रत की अवस्था में जीव का अंतकरण इन्द्रियों के माध्यम से बाहर निकलकर बाह्य विषयों का स्वरूप प्राप्त कर लेता है जिसे दार्शनिक शब्दावली में वृत्ति कहते हैं। इसी वृत्ति के माध्यम से उसे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्राप्त हुआ होता है। इस अवस्था मे हमारा शरीर सक्रिय रहता है। चेतना की दूसरी अर्थात् स्वप्न की अवस्था में इन्द्रिया क्रियाशील नहीं रहती हैं लेकिन अंतकरण सक्रिय रहता है और जाग्रत अवस्था में ग्रहण संस्कार प्रतिभाषिक सत्ताओं की सृष्टि करते हुए उनका ज्ञानार्जन कराता है। इस अवस्था में जीव का सूक्ष्म शरीर क्रियाशील रहता है।

वेदान्त के अनुसार- "इन्द्रियाजन्य विषय गोचरा परोक्षान्तःकरण वृत्यवस्था, स्वप्नावस्था" अर्थात् इन्द्रियों से प्रादुर्भूत अगोचर विषय तथा परोक्ष अंतकरण वृत्ति को स्वप्नावस्था कहा

जाता है। चेतना की तीसरी अवस्था अर्थात् सुषुप्ति में जीव का अंतक्करण अविधा में लीन हो जाता है जिससे उसमें से समस्त सांसारिक विषयों का विलोप हो जाता है तथा जीव अज्ञान की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों के माध्यम से आनन्द प्राप्त करता है। इस अवस्था में जीव का सूक्ष्म शरीर से साथ छूट जाता है तथा कारण ही शरीर के रूप में वर्तमान रहता है। चैतन्य जीव की तीनो व्यावहारिक अवस्थाओं के अनुरूप ही जीव के तीन नाम- विश्व, तेजस एवं प्राज्ञ होते हैं। ये तीनों जीव स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा पंचकोशों पर केन्द्रित होते हैं। जाग्रत अवस्था का जीव 'विश्व' कहलाता है जबकि स्वप्नावस्था का अभिमानी जीव तेजस होता है। यह जीव विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोश के रूप में सूक्ष्म शरीर की उपाधि से युक्त होता है।

चेतना की सुषुप्त अवस्था का जीव प्राज्ञ कहलाता है। चेतना की जाग्रत अवस्था में विश्व, तेजस एवं प्राज्ञ तीनो जीव सक्रिय होते है। तेजस, प्राज्ञ और विश्वद्वारा अनुभूत सुषुप्ति का स्मरण विश्व जीव को होता है। क्योंकि स्वप्नावस्था में जीव अक्रियाशील रहता है इसलिए तेजस जीव को जाग्रत का ध्यान नहीं रहता है। सुषुप्ति की अवस्था में विश्व तथा तेजस दोनों ही प्राज्ञ जीव में विलीन हो जाते हैं अत: जाग्रत और स्वप्न दोनों की स्मृति नहीं रहती है। चेतना की चौथी एवं अंतरिम तुरीयावस्था परमार्थिक अवस्था होती है जिसमे जीव अपने तात्विक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि तुरीयावस्था में अज्ञान का विनाश हो जाता है। इसलिए इस अवस्था में जीव अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था जीव के लिए प्रत्येक तरह के शरीर से मुक्त और पंचकोशातीत होती है तथा इस अवस्था को अनुपहित चैतन्य, शुद्ध चैतन्य, शिव और अद्वैत कहते हैं। तुरीयावस्था में अपने शुद्ध रूप में प्रकाशित जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं होता है। इस अभिन्नता का प्रतिपादन करना ही वेदान्त का प्रमुख विषय रहा है उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर सारांशिक रूप से हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में चेतना की व्याख्या-विवेचना ज्ञानमीमांसकीय और तात्विक संदर्भों में ही हुई है। चेतना का दार्शनिक पक्ष चेतना को द्रव्य, गुण, कर्म, ब्रह्म एवं जीव आदि

स्वरूपों में व्याख्यायित करता हुआ अंततः जीवन से संदर्भित हो गया है अर्थात् दार्शनिक दृष्टि से चेतना केवल मन तक ही संकुचित नहीं है अपितु इसकी आयामिक विस्तीर्णता ब्रह्म या जीव की चैतन्यता तक है। भारतीय दर्शन के संदर्भ में यदि चेतना की सारांशिक अर्थवत्ता निकाली जाय या फिर चेतना के दार्शनिक पक्ष पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्टतःप्रत्यक्षित होता है कि चेतना जीवों का विविध विषयापेक्षी सांसारिक ज्ञान है तथा यही ज्ञान के साथ संपृक्त होकर जीव या ब्रह्म को आधार प्रदान करती है।

चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष-

जैसा कि पूर्व में उल्लिखित हो चुका है कि चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष आधुनिक युग के मनोविज्ञान से अंतर्संबंधित रहा है। पश्चिमी भू-भाग में एक मनोविज्ञान के एक स्वतंत्र विषय के रूप में अस्तित्व में आने से पहले शरीर की समस्त क्रियाओं का अध्ययन-अनुशीलन दर्शनशास्त्र और शरीर विज्ञान के अंतर्गत ही होता रहा था। भारत की समृद्धशाली दार्शनिक परम्परा की नकल-वीसी करते हुए पाश्चात्य विचारक भी आधुनिक युग से पूर्व मनुष्य समेत समस्त जीवों के मानसिक क्रियाकलापों को दार्शनिक पद्धति के आधार रही विवेचित-विश्लेषित करते रहे हैं। लेकिन इतिहास के आधुनिक कालखण्ड की सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी से जब से एक विषय के रूप में मनोविज्ञान अस्तित्व में आया तब से जीवों की मानसिक क्रियाशीलताओ के अध्ययन-विवेचन में दार्शनिक पद्धतियों की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों अवधारणाओं का प्रयोगाधिक्य देखने को मिलता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों की नित्यता से मनुष्य के भौतिक जीवन में जैसे-जैसे विविधता तथा जटिलता आती गयी वैसे-वैसे उसकी मानसिक बनावट में भी दुरूहता समाविष्ट होती गयी। परिणामस्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक और तकनीकि युग में मनुष्य का मानस जिस प्रकार की जटिलताओं का अंतर्जाल बन गया है उनके सम्यक अध्ययन-विवेचन में यह मनोविज्ञान और इसकी मनोवैज्ञानिक पद्धति दर्शनशास्त्र की समतुल्यता में अधिक सफल रही है। दरअसल

मनोविज्ञान मन का विज्ञान है जिसमें जीवों के मानसिक पटल की संरचना, उस संरचना के निर्माणात्मक घटक निर्माण की प्रक्रिया एवं पद्धति आदि का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है।

मनोवैज्ञानिक पद्धति प्राणियों विशेषकर मनुष्यो की चेतना का अनुशीलन करते समय उनकी बाह्य परिस्थितियों के साथ-साथ अंतरार्वृत्तियों के अवलोकन पर भी समान बल देती है। यद्यपि चेतना के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष में अधिक आधारिक विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता है लेकिन फिर भी आधुनिक संदर्भों में इसका मनोवैज्ञानिक पक्ष अधिक प्रबल कहा जा सकता है। कारण यह कि चेतना का दार्शनिक पक्ष जटिल होने के साथ-साथ प्राचीन भी हो चुका है जबकि इसका मनोवैज्ञानिक संदर्भ आधुनिक है तथा इसमें वैज्ञानिकता भी अंतर्भुक्त है। चेतना के दार्शनिक पक्ष में वैज्ञानिकता के स्थान पर पारलौकिकता को अधिक महत्व मिला है। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक पद्धति बाह्य परिस्थितियों एवं अंतरार्वृत्तियों के मध्य सामंजस्य स्थापित करती हुई चलती है जबकि दार्शनिक पद्धति में मनुष्य के अंतरार्वृत्ति का एकपक्षीय विवेचन ही केंद्र में दिखाई देता है। अन्य संदर्भों मसलन-चेतना की स्थिति, चेतना के प्रकार, अर्थ, परिभाषा, प्रकृति, निर्माणक अवस्था तथा मनुष्यगत महत्त्व आदि संदर्भों में चेतना के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष परस्पर अभेद रखते हैं । बल्कि कई प्रसंगों में तो चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष दार्शनिक पक्ष की नकल मात्र रह गया है।

मनोविज्ञान के अध्ययन-अनुशीलन की पद्धति को मनोवैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है। इसी मनोविज्ञान मनोविश्लेषणवाद तथा मनोवैज्ञानिक पद्धति को मनोविश्लेषणवादी पद्धति कहा जाता है। पश्चिम में मनोविश्लेषणवाद के व्यवस्थित प्रवर्तक प्रतिपादक तथा प्रचारक-विचारक सिग्मंड फ्रायड, एडलर तथा युंग रहे है। इसी वाद और पद्धति के अंतर्गत इन तीनो विचारकों ने आत्मा, मन, चेतना आदि का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

मनोविश्लेषणवाद का आदि प्रतिपादक सिग्मंड फ्रायड मन के दो भाग-चेतन तथा अचेतन-मानता है। उसके अनुसार मन का केवल दस प्रतिशत भाग ही चेतन होता है जबकि अवशेष अधिकांश भाग अवचेतन मन के अंतर्गत आता है। इस संदर्भ में इड, ईगो और सुपर ईगो उसके द्वारा विकसित अवधारणाएँ है। इसमें इड मनुष्य के जन्मजात गुण तथा उसकी जैविक विशेषताओं का बुनियादी स्रोत होता है। यह मन का अचेतन और अज्ञात भाग तथा विवेकहीन एवं दमित इच्छाओं और वासनाओं का आधार होता है। इसके विपरीत ईगो, इड का ही एक अंश होता है।

जिसका विकास बाह्य पर्यावरण की प्रभावोत्पादकता से होता है। इगो मन का चेतन अंग होता है और अचेतन मन की अवांछनीय इच्छाओं-वासनाओं को नियंत्रित करता है। सूपर ईगो का संबंध मनुष्य की नैतिक वृत्तियों आदतों मूल्यों तथा व्यवहारों आदि से होता है जिसे मनुष्य शिक्षा के माध्यम से अर्जित करता है। सुपर इगो ही मनुष्य को एक आदर्श और नैतिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है। दूसरे मनोविश्लेषणवादी एडलर का मानना है कि किसी मनुष्य के मन की गहन छानबीन तब तक नही की जा सकती है जब तक की सम्पूर्ण जीवन का ज्ञान न हो। एडलर चेतन और अचेतन को नितांत भिन्न नही मानते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य अचेतन का ज्ञान हो जाने के बाद वह चेतन में परिवर्तित हो जाता है और जब चेतन की समझ विकसित नहीं हो पाती है तब वह अचेतन में बदल जाता है। तीसरे मनोविश्लेषणवादी कार्ल युंग मन की जगह चित्त शब्द का प्रयोग करने के पक्षधर दिखाई देते है जिसमें चेतन और अचेतन दोनों का अन्तर्वेशन सहजता से हो जाता है जबकि मन केवल चेतन मन का आभास कराता है। युंग की दृष्टि में अचेतन प्रधान होता है तथा चेतन गौण। कारण यह है कि चेतन मन का बाह्य भाग है। और यह अचेतन के अभाव में स्थिर नहीं रह सकता है। वैयक्तिक एवं सामूहिक ये अचेतन के दो प्रमुख स्वरूप होते हैं जिनमें वैयक्तिक अचेतना जीवों के अनुभवों के आधार पर परिवर्द्धित होता है जबकि

सामूहिक अचेतन मनुष्य की सांस्कृतिक परम्परा एवं अनुवांशिकी के माध्यम से निर्मित होता है।

युंग ने भावना, संवेदना, चिंतन और सहजबोध आदि मानसिक प्रक्रियाओं को अधिक महत्ता प्रदान है। यद्यपि वैयक्तिक अचेतन तथा सामूहिक अचेतन मन या चित्त संबंधी युग की सर्वथा नवीन धारणाएँ है जो कि आधुनिक एवं उचित होते हुए भी अगणित विसंगतियों से परिपूर्ण अर्थात् अनौचित्यपूर्ण है जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान मन के पूर्व विवेचन-विश्लेषण से भारतीय दर्शन की समतुल्यता में अभी मीलो पीछे है। पश्चिम का तथाकथित आधुनिक मनोविज्ञान भले ही वर्तमान में विकसित और प्रयोगात्मक स्वरूप धारण कर चुका हो उसकी प्रयोगात्मक तथा वैज्ञानिक पद्धति भले ही अत्यधिक उन्नत किस्म की हो गयी हो लेकिन यह अभी भी हमें मन की समस्त शक्तियों और प्रवृत्तियों का ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के इतिहास पर दृष्टिपात करने से अभिज्ञात होता है कि इसका परिक्षेत्र चेतन मन और अचेतन मन तक ही संकुचित है जबकि भारतीय दर्शन की दृष्टि से देखें तो दिखाई देता है कि हमारे मन की कुछ और अवस्थाएँ प्रवृत्तियाँ एवं शक्तियाँ भी होती है जिनका पाश्चात्य आधुनिक मनोविज्ञान में कोई उल्लेख नहीं मिलता है या फिर जिनको समझने-समझाने की सामर्थ्य इस आधुनिक मनोविज्ञान में नहीं है। कारण यह है कि मनोविज्ञान की पद्धति में भौतिकवाद आधारित विज्ञानों की पद्धति को ही तरजीह दी जाती है।

भारतीय दर्शन अथवा मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान में आधारिक भिन्नता यही है कि भारतीय दर्शन या मनोविज्ञान भौतिकवाद पर पूर्णतःआश्रित नहीं है। इसमें प्रकृति तत्वों के अतिरिक्त अन्य चेतन जीवो, पुरुषों, आत्माओं व ईश्वर आदि की भी समान महत्ता प्राप्त है जबकि पाश्चात्य मनोविज्ञान में ऐसा नहीं है। दरअसल आधुनिक व पाश्चात्य मनोविज्ञान के

अस्तित्व में आने से बहुत समय पूर्व ही भारतीय दर्शन ने मन के सभी पहलुओं के जिस वैज्ञानिक और व्यावहारिक ज्ञान का अनुशीलन कर लिया था उससे आगे बढ़ने की बात तो दूर पश्चिम का मनोविज्ञान वहाँ अभी तक पहुँच भी नही पाया है? वह संवेदना, उद्वेग, कल्पना, विचार, प्रत्यक्षीकरण व स्मृति आदि मानसिक कार्य-प्रणालियों तथा इनके प्रादुर्भावक भौतिक कारणों और शारीरिक अवस्थाओं के अध्ययन-अनुशीलन तक ही सीमित है। आत्मा एवं मन का अध्ययन इसकी परिधि से अभी तक बाहर है। आधुनिक मनोविज्ञान मस्तिष्कीय कार्य से पृथक आत्मा व मन का अस्तित्व नहीं स्वीकार करता है। इसके अनुसार मनुष्य की ज्ञान की प्राप्ति ज्ञानेन्द्रियों से अंतर्संबंधित नाड़ियों के माध्यम से बाह्य जगत की उत्तेजनाओं की प्रभविष्णुता के मस्तिष्क के विशिष्ट भाग में पहुँचने से ही संभव होती है। मनुष्य अपने मानसिक भावो और विचारों को मस्तिष्कीय कार्यप्रणालियों, गलतियों, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं आदि के रूपों मे ही जानता है। इस की दृष्टि में मानवीय संवेदनाएँ मस्तिष्क वर्क की क्रिया मात्र है जिसमें दृष्टिगत संवेदना में मस्तिष्क वल्क का दृष्टि क्षेत्र क्रियाशील रहता है तथा श्रवण संवेदना में मस्तिष्क वल्क का श्रवण क्षेत्र गतिशील रहता है।

इसी तरह दूसरी अन्य संवेदनाओ के समय विभिन्न मस्तिष्कीय वल्क सक्रिय होते हैं। इस प्रकार से मेनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की सारी संवेदनाएँ और ज्ञान मस्तिष्कीय वल्क की क्रियाशीलता पर ही आधारित होती है और ये क्रियाएँ यंत्रवत गतिमान रहती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान के सम्यक ज्ञान के लिए शरीर-विज्ञान का सूक्ष्मज्ञान अपरिहार्य है। शरीर-विज्ञान में भी स्नायु-मण्डल का ज्ञान विशेष महत्व रखता है क्योकि इसके अभाव में आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन संभव नहीं होगा। ऐसी अवस्था में पश्चिम का आधुनिक मनोविज्ञान चेतना तथा मन की प्रवृत्तियो, शक्तियों आदि के संदर्भ में हमारा ज्ञानवर्धन करने में असफल रह जाता है। भारतीय दर्शन या मनोविज्ञान की भाँति यह हमें यह समझाने में विफल रहा है कि मन की अवस्थाएँ दैहिक क्रियाओं तथा स्पंदनों से

सर्वथा भिन्न होती है तथा मन और शरीर को एक नहीं माना जा सकता है। शरीर का अनिवार्य अवयव होने पर भी मस्तिष्क, मन से पृथक होता है। भारतीय दर्शन मन या आत्मा को सांसारिक विषयों का द्रष्ट्रा तथा स्वयं प्रकाशवान मानता है।

मस्तिष्क शरीर का अंग तो है लेकिन यह जड़मात्र होता है। वस्तुओं या विषयों को समझने की सामर्थ्य और सुख-दुख का अनुभव मस्तिष्क में न होकर मन अथवा आत्मा के द्वारा ही होता है। इसलिए चेतना और मस्तिष्क के भौतिक स्पंदन को परस्पर एक नहीं माना जा सकता है, भले ही दोनो में किसी तरह का संबंध हो। शरीर व मस्तिष्क की विकृति से मानसिक क्रियाएँ विकृत या समाप्त हो जाती है या मस्तिष्कीय स्पंदन चेतना को जाग्रत कर सकती है लेकिन फिर भी मन और शरीर को एक ही नहीं कहा जा सकता है। मनुष्य की नाड़ियों तथा मस्तिष्क के अध्ययन तक ही स्वयं को सीमित रखने वाला पाश्चात्य मनोविज्ञान चेतना और शरीर के मध्य व्याप्त इस पृथकता को समझने-समझाने की दृष्टि से अभी भी बहुत पीछे है।

2.3 चेतना की स्वरूपगत विविधता-

चेतना के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष के विवेचन-विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर उपसंहारात्मक रूप से कहा जा सकता है कि दर्शन और मनोविज्ञान दोनों ने इसे मन, बुद्धि, ज्ञान, जीव और ब्रह्म आदि के अर्थों में ही विवेचित किया है। अपनी विविध आयामी अर्थवत्ता के समरूप ही इसकी स्वरूपगत विविधता भी प्रत्यक्षित होती है। अर्थात् जिस संदर्भ में चेतना का जो अर्थ ग्राह्य होगा उसी के अनुरूप चेतना का स्वरूप भी निर्मित होगा। दरअसल शब्द की आर्थिक प्रकृतियाॅं ही उसकी स्वरूपगत प्रवृत्तियों प्रकृतियों की निर्धारक होती हैं इसलिए चेतना की स्वरूपगत विविधताएं इसकी आर्थिक प्रकृतियों की विविधता पर ही निर्भर करेगी। क्योंकि इसके दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष जो कि इस शब्द के बुनियादी आधार है के अध्ययन-अनुशीलन से अभिज्ञात हो चुका है कि ये दोनों पक्ष

सम्मिलित रूप से चेतना के दो प्रकार के अर्थ उद्घाटित करते है। इनमें पहले प्रकार का अर्थ अंतर्मुखी वृत्तियो का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ मन, बुद्धि, जीव व ब्रह्म आदि अर्थ केन्द्र में होते हैं जबकि दूसरे तरह का अर्थ बहिर्मुखी वृत्तियों का संचालक होता है और इसमें ज्ञान केन्द्र में होता है।

चेतना के पहले अर्थात् अंतरामुखी प्रकार के अर्थ में चेतना मन की क्रियाओं, बुद्धि के व्यापारों तथा जीव या ब्रह्म आदि की चैतन्यता से अंतर्संबंधित होती है जबकि दूसरे अर्थात् बहिर्मुखी कोटि के अर्थ में चेतना सांसारिक या विविध विषयी ज्ञान से संबंधित होती है। चेतना की इन्हीं दोनो कोटि की अर्थवत्ताओं के समरूप उसके स्वरूप में भी विविधता दृष्टिगोचर होती है। इस स्वरूपगत विविधता के भी प्रधानतः दो आयाम निर्मित होते है, जिसमे पहला आयाम दार्शनिक पक्ष से और दूसरा आयाम व्यावहारिक पक्ष से अंतर्संबंधित होता है। इसे सरल शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि चेतना का पहला स्वरूप मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म आदि के दृष्टिगत निर्मित होता है जबकि इसका दूसरा स्वरूप सांसारिक विषयों के ज्ञान के आधार पर निर्मित होता है। इस तरह से चेतन, अवचेतन, अर्धचेतन आदि जहाँ चेतना के प्रथम स्वरूप के उपस्वरूप है वहीं सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन क्षेत्रों से अंतर्संबंधित चेतना इसके दूसरे स्वरूप की चेतना की उपस्वरूप कही जा सकती है। इनमें से पहले स्वरूप और उपस्वरूप की चेतना जो कि मन, बुद्धि, जीव आदि के चेतन, अवचेतन, अर्द्धचेतन अवस्थाओं से संदर्भित होती है- सैद्धांतिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन-अनुशीलन का ही विषय होती है जबकि दूसरे स्वरूप एवं उपस्वरूप की चेतना जो कि मनुष्य के सांसारिक ज्ञान के रूप में उसके देशकाल एवं वातावरण के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ज्ञान से संबंधित होती है- का व्यावहारिक विवेचन-विश्लेषण किया जाता है। इसमें चेतना का पहला स्वरूप दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिको के अध्ययन-विवेचन का विषय है जबकि दूसरा स्वरूप साहित्य-सर्जकों, मीमांसकों तथा समालोचकों के लिए विशिष्ट उपादेयता रखता है।

यहाँ हमारा उद्देश्य चेतना के इसी दूसरे स्वरूप और उपस्वरूप की साहित्यिक उपादेयता का अनुशीलन-विवेचन करना है।

चेतना एवं मनुष्य एक-दूसरे के पर्याय कहे जाते है क्योंकि चेतना ही वह विशेष मानवीय गुण है जो कि उसे सजीव बनाती है। मनुष्य की चेतना उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर एक दीर्घकालीन सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक उपक्रम का परिणाम होती है। प्रत्येक मनुष्य की बौद्धिक क्षमता पृथक-पृथक होती है इसलिए सभी मनुष्यों की चेतना या ज्ञान संग्रहण की सामर्थ्य भी भिन्न-भिन्न होती है। चेतना के विकसन के उपरांत मनुष्य की प्राकृतिक स्वतंत्रता विलुप्त हो जाती है क्योंकि चेतनाशील मनुष्य आंतरिक वृत्तियों से प्रेरित-प्रभावित तो होता है लेकिन उन्हें व्यक्त नहीं कर सकता है।

इस तरह से मनुष्य की चेतना या विवेकी मन उसके अवचेतन अथवा प्राकृतिक मन पर अपना नियंत्रण स्थापित किए रहता है। यदि चेतना के दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक अर्थ को ग्रहण करें तो मन, बुद्धि, जीव या ब्रहम की अर्थवत्ता वाली इस चेतना के तीन प्रमुख स्वरूप चेतन, अर्द्ध चेतन तथा अवचेतन कहे जा सकते हैं। इनमें चेतन स्वरूप में चेतना मन का वह भाग होती है जिसका सम्बंध तात्कालिक या वर्तमान ज्ञान से होता है जैसे कि लिखने, पढ़ने या गाने की चेतना आदि। मनुष्य जिन शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के प्रति सजग होता है वे चेतना स्तर पर घटित होती हैं। चेतना के इस स्वरूप में संचालित सभी क्रियाओं का ज्ञान मनुष्य को रहता है इसीलिए यह चेतना का शाश्वत स्वरूप कहलाता है। चेतना के अर्द्धचेतन स्वरूप में मन न हो पूर्णतःचेतन अवस्था में होता है और न ही अवचेतन में। इस स्वरूप वाली चेतना में वे भाव, विचार या इच्छाएँ सम्मिलित होती हैं जो व्यक्ति के वर्तमान से संदर्भित तो नहीं होती है लेकिन प्रयास करने पर उसके चेतन मन में सम्मिलित हो जाती है। चेतना का यह स्वरूप स्मरणशक्ति पर आधारित होता है।

चेतना के अंतिम अर्थात् अवचेतन स्वरूप में मनुष्य के वे अनुभव सम्मिलित होते हैं जो न तो उसकी चेतना में होते हैं और न ही अर्द्धचेतना में। दरअसल यह मन का वह भाग या स्वरूप है जिसे व्यक्ति स्मरणशक्ति के द्वारा चेतना में लाने का प्रयास करे तो भी सफल नही होगा। चेतना के इस स्वरूप में रहने वाले विचारों और भावनाओं आदि का स्वरूप वासनात्मक, असामाजिक, अनैतिक तथा घृणित होता है। ये वे इच्छाएँ होती है जिनकी शर्त दैनंदिन जीवन में संभव नहीं होती है इसलिए इन्हें अवचेतन में दबा दिया जाता है परंतु इनका पूर्णत: शमन सम्भव नहीं होता है। यथासमय ये इच्छाएँ प्रबल होकर चेतन स्तर तक आने के लिए प्रयासरत रहती है। इस तरह से कहा जा सकता है कि चेतन स्वरूप में मन की वे सभी क्रियाएं और प्रवृत्तियाँ अंतर्निविष्ट होती हैं जो मनुष्य को गतिशीलता या जीवंतता प्रदान करती हैं जब कि अवचेतन या अर्धचेतन मन के बाहर के विषयों, विशेषकर विस्मृति के स्तर तक पहुँचे मन के कार्य-व्यापारों से संबंधित होती है। चेतना की अचेतन अवस्था वासनात्मक तथा शमित होती है जिसमे असामाजिक, अनैतिक तथा अवांछनीय विषयों का निवास होता है जो कि समय सापेक्ष अपनी प्रबलता द्वारा मन को आन्दोलित करते रहते हैं। चेतना की अनुभूतियाँ अवचेतन तथा अचेतन के मध्य परिभ्रमण करती रहती है तथा ये कभी भी पूरी तरह से सक्रिय नहीं होती है।

सम्पूर्ण जगत् का प्रत्येक अवयव या तो जड़ है या फिर चेतन-जड़ में संवेदनात्मकता की प्रबलता, सजगता तथा एकान्तिकता का नितांत अभाव पाया जाता है जबकि भाववादियो तथा अध्यात्मवादियों के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक जागतिक पदार्थ चेतनाजन्य होता है। दरअसल चेतना ही सृष्टि का आधार है। आत्मा तथा चैतन्यता की विवेकशीलता ही मनुष्य को पशु जगत से पृथक मनुष्यता का अधिकारी बनाती है। दरअसल चेतना एक ऐसा धर्म है जिसके सानिध्य में वैयक्तिक तथा सामाजिक जागृति का धर्म प्रादुर्भूत होता है। सभ्यता और संस्कृति की अंधदौड़ में सामाजिक जागृति एवं राष्ट्रीय राजनीतिक भावना के अनुभावन व्यापार के पल्लवित-पुष्पित होने में चेतना की महती भूमिका रही है। इस अर्थवत्ता के

आधार पर कह सकते है कि चेतना समाज-सापेक्ष होती है। सामाजिक अवनति की विभिन्न स्थितियों-परिस्थितियों में जो प्रतिभा और शक्ति प्रदीप्त होकर प्रकीर्णित हो जाए तथा जिसकी प्रभावोत्पादकता से समस्त समाज में नवजागरण की स्थिति पैदा हो जाय प्रतिभा या शक्ति सामाजिक चेतना की प्रादुर्भावक व नियंत्रक होती है। सामाजिक चेतना की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ- ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक होती हैं। साहित्यकार जैसे अभिव्यापक लोकमंगल का उद्देश्य लेकर चलने वाले मनीषियों की चेतना इन तीनों प्रवृत्तियों की पोषक होती है जिसके आधार पर ही वह अपने युग सत्य का शतांश ग्रहण करने में समर्थ होता है।

पूर्व में अभिकथित हो चुका है कि चेतना का दूसरा स्वरूप अर्थात् कैवल्य या ज्ञानवादी चेतना, मनुष्य के भौतिक पर्यावरण में वर्तमान विभिन्न जीवनगत क्षेत्रों के ज्ञान से संबंधित होती है। साधारण मनुष्यों की समतुल्यता में नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञाजन्य विशिष्ट प्रतिभा के पोषक-संरक्षक साहित्य-सेवियो की चेतना विलक्षण और सर्वोत्कृष्ट व चरमोत्कर्षी प्रकार की होती है। साहित्य-समाज का दर्पण होता है इसलिए अपरिहार्य है कि साहित्यकार अपने समाज की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, जनता की चित्तवृत्तियों और घटना-व्यापारों की सम्यक बोधगम्यता प्राप्त कर ले, अन्यथा अपनी सर्जनाओं के लिए वह नवीन, मौलिक, दीर्घकालीन प्रासंगिकता वाले तथा लोककल्याणकारी विषय-वस्तु का चयन नहीं कर पाएगा। अपनी इसी आवश्यकता की पूर्ति के दृष्टिगत रचनाकार अपने और समाज से संबंधित विविध जीवन-क्षेत्रो मसलन- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। परिवेशगत एवं स्वयंगत तत्वों का यही ज्ञान साहित्यकार की चेतना कहलाता है जिसका प्रकीर्णन उसके मन और मस्तिष्क तक होता है। क्योंकि मनुष्य सामूहिक तथा सामाजिक प्राणी है तथा समाज के अभाव में आपकी सत्ता कल्पनातीत होती है। इसी तरह समाज और व्यक्ति में भी परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध होता है तथा ये दोनो भी एक-दूसरे के अस्तित्व और अस्मिता के आधार होते हैं इसलिए व्यक्ति की चेतना उसके

संस्कारों तथा सामाजिक परिवेश के सम्मिलन से विकसित होती है। दरअसल चेतना मनुष्य की आंतरिक शक्ति का नाम है जो कि उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप तथा अनुभव प्राप्ति में अंतर्निहित होती है। चेतना एवं मानव-जीवन में घनिष्ठ संबंध होता है।

चेतना के कारण ही सामाजिक विसंगतियों-विद्रूपताओं की पहचान और उनका निवारण होता है तथा चेतना ही वह घटक है जो राजनीतिक परिवर्तनों, विरोधाभासों व महत्वाकांक्षाओं आदि को उद्गारित करती है। चेतना ही सामाजिक-राजनीतिक क्रांतियों का आधार होती है और चेतना ही समाज व राष्ट्र में अमूल-चूल परिवर्तन लाती है। इसी के माध्यम से सांस्कृतिक बदलावों, धार्मिक विसंगतियों वैज्ञानिक अनुसंधानों, पर्यावरणीय विविधताओं, भौगोलिक घटको तथा आर्थिक गतिविधियों आदि का पता चलता है तो यही आस-पास संचालित विविध प्राकृतिक एवं मानवीय क्रियाकलापों से हमारा परिचय करवाती है। इस तरह से कह सकते हैं कि चेतना मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की नियंत्रक और संचालक होती है। इसकी इसी जीवनगत उपादेयता के दृष्टिगत इसे जीवन का पर्याय कहा गया है। व्यक्ति ज्ञान के रूप में संसार से जो कुछ भी ग्रहण करता है और अनुपयोगी समझकर जिन्हें अस्वीकार कर देता है उन सभी के मूल में उसकी चेतना ही स्वीकार या नकार की निर्धारक होती है अर्थात् ग्रहण एवं त्याग की यही प्रवृत्ति चेतना कहलाती है। चेतना की परिधि अत्यंत व्यापक होती है जो कि मन से लेकर मस्तिष्क तक प्रकीर्णित होती है। देशकाल और वातावरण की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, जनचित्तवृत्तियों तथा घटना-व्यापारों के रूप में यही चेतना साहित्य में अभिव्यक्त होती है। साहित्य और समाज के आपसी संबंधों की भाँति ही साहित्य तथा चेतना में श्री परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध व्याप्त होता है।

समकालीन परिस्थितियों के अनुरूप चेतना विकसित होती है तथा चेतना के विकासोपरांत ही साहित्य-सृजन संभव होता है। सामाजिक वातावरण और संस्कारों से विकसित होने वाली चेतना जितना सामान्य-मनुष्य के जीवन में महत्त्व उससे कही लाख गुना

उपादेयता इसकी साहित्यिक मनुष्यों के जीवन में होती है। दरअसल "मनुष्य वस्तुओं को अपनी-अपनी समझदारी और ज्ञान के आधार पर पर परखता है। अतः संसार प्रति उसके दृष्टिकोण को ही चेतना की संज्ञा दी जाती है।" इस तरह से स्पष्ट है कि मनुष्य को उसकी परिवेशगत घटनाओं का बोध कराने वाला गुण-धर्म ही चेतना है जो जीवधारियों को निर्जीवों से पृथक करती है। जीवन की दीर्घकालिक यात्रा में भय से लेकर मृत्यु तक अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य अपनी बुद्धि, विवेक, ज्ञान एवं अनुभव आदि के आधार पर अनेक सोपानों को पार करता है जिसे एकीकृत रूप से मानव चेतना के नाम से संबोधित किया जाता है। यह विचारों, भावनाओं और दृष्टिकोणों का समूह तथा मानव-मन की सहज प्रक्रिया है जो कि मनुष्य के जीवनकाल में आद्यंत विकसित होती रहती है। इसके भावात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक रूपों को ही सम्मिलित रूप से भारतीय दर्शन में सच्चिदानंद स्वरूप कहा गया है। समस्त सृष्टि के आधार इस चेतना के व्यावहारिक स्वरूप से ही साहित्य-सर्जको एवं सहृदयों का विशेष संबंध होता है अतः चेतना के ज्ञानात्मक अथवा परिवेशगत विविध स्वरूपों का संक्षिप्त लेकिन स्वतंत्र विवेचन-विश्लेषण अब विषय संगत और आवश्यक प्रतीत होने लगा है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के दृष्टिगत चेतना के विविध व्यावहारिक या ज्ञानात्मक स्वरूपों का अलग से अध्ययन-अनुशीलन किया जा रहा है।

2.3.1 सामाजिक चेतना

'सामाजिक चेतना' उपवाक्य में अंतर्निहित चेतना शब्द मनोविज्ञान से अंतर्संबधित है जिसके अनुसार चेतना चेतन मानस की प्रमुख प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः किसी व्यक्ति का अपने समाज से संदर्भित विविध वस्तुओं, व्यक्तियों, विचारों, व्यवहारों, चित्तवृत्तियों, घटनाओं तथा परिवर्तनो आदि का सम्यक ज्ञान रखना ही उस व्यक्ति की सामाजिक चेतना कहलाती है। सामाजिक चेतना व्यक्तिगत या सामूहिक भी हो सकती है। सुविख्यात जर्मन मनोविज्ञानी सी॰जी॰ युंग ने सामूहिक चेतना के संदर्भ मे लिखा है कि- "सारी चेतना जो व्यक्ति विशेष

की न होकर एक ही काल में अनेकानेक व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समुदाय, समाज, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव जाति की सम्पत्ति ही सामूहिक चेतना है। राज्य, धर्म, विज्ञान आदि संबंधी व्यापक धारणाएँ भी सामूहिक चेतना के अंतर्गत है। समाज में नये मूल्यों की स्थापना के सारे प्रयत्नों को सामूहिक चेतना से लोहा लेना पड़ता है। प्रायःदेखा जाता है कि समाज विशेष की दार्शनिक, राजनीतिक, साहित्यिक मान्यताओं में तो परिवर्तन आ जाता है किंतु सामूहिक चेतना अक्षुण्ण रहती है। परिणाम यह होता है कि कालक्रम से या तो नई मान्यताएँ अत्यंत निर्बल अथवा नष्ट हो जाती हैं या उनके क्रांतिकारी रूप का लोप हो जाता है और वे सामूहिक चेतना द्वारा ग्राह्य रूप में परिणत हो जाती हैं।" क्योकि सामूहिक चेतना मनोविज्ञान की अधिक समवर्ती होती है इसलिए साहित्य के संदर्भ में व्यक्तिगत चेतना के समतोलन में इसकी प्रासंगिकता और परिधीय व्यापकता बहुत कम दिखाई देती है। दरअसल साहित्य-सर्जक और सहृदय दोनों के लिए सामाजिक चेतना का व्यक्तिगत रूप ही अधिक महत्त्व का होता है जबकि सामाजिक चेतना का सामूहिक स्वरूप दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिको के लिए दीर्घकालिक एवं प्रभावोत्पादक उपादेयता का होता है।

सामाजिक चेतना को भलीभाँति समझने के लिए प्रथमत: इसके केन्द्रीय आधार समाज की संरचना, निर्माण प्रक्रिया तथा संगठनात्मक उद्देश्य आदि का समुचित अभिज्ञान प्राप्त करना अपरिहार्य है। समाज विभिन्न व्यक्तियों का एक समूह होता है। मानवीय सभ्यता के विकासानुक्रम में जैसे-जैसे मनुष्य को संगठन शक्ति का महत्व ज्ञात होता गया वैसे-वैसे वह संगठित होता गया। जब इस संगठन से भोजन, वस्त्र, आवास आदि जीवनगत मूलभूत आवश्यकताओं के विषय में मनुष्य अधिक लाभान्वित महसूस करने लगा तब उसकी यह संगठनात्मक प्रवृत्ति परिवार से आगे तक बढ़ने लगी जिसके परिणामस्वरूप समाज का निर्माण हुआ। समाज व्यापक स्तर पर विभिन्न व्यक्तियों के संगठन का नाम ही है जो कि आरम्भ में मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति के चलते ही अस्तित्त्ववान हुआ था। मनुष्य को जब यह

अनुभूत हुआ कि संगठन में बहुत बड़ी शक्ति होती है तथा जब परिवार जैसे छोटे से संगठन में रहते हुए आपसी सहयोग से उसका जीवन इतना आसान हो सकता है तो संगठन की व्यापकता तो उसके लिए और भी उपयोगी सिद्ध होगी। उसकी इसी स्वार्थी प्रवृत्ति ने मनुष्यों को व्यापक स्तर पर संगठित होने के लिए प्रेरित किया। आपसी सहयोग के उद्देश्य से निर्मित समाज धीरे-धीरे अपनी संगठन शक्ति के कारण मनुष्य के अस्तित्व से सम्बद्ध हो गया जिसके उपरांत समाज के अभाव में उसकी सम्पूर्ण अस्मिता ही कल्पनातीत हो गयी। आपसी सहयोग के उद्देश्य से विभिन्न व्यक्तियो के भिन्न-भिन्न क्रिया-व्यापारों के आधार पर निर्मित समाज व्यक्तियों का ही समूह था इसलिए इसमें प्रत्येक व्यक्ति की समान महत्ता थी। कालांतर मे जब ज्ञान और सभ्यता का थोड़ा और विकास हुआ तब इस समाज के यथेष्ट संचालन के लिए कुछ आधारभूत नियमों-निर्देशों की आवश्यकता अनुभूत होने लगी। क्योकि प्रत्येक मनुष्य की मनोवृत्ति के साथ-साथ उनकी आवश्यकताएँ और महत्वाकांक्षाएँ भी पृथक-पृथक होती है इसलिए इनको नियंत्रित रखने तथा इनमे सामंजस्य बनाए रखने के सामाजिक नियमों-निर्देशो अथवा मानदण्डो का निर्धारण आवश्यक था।

इसके अतिरिक्त समाज की गतिशीलता बनाए रखने और सामाजिकों में कर्मण्यता की भावना के उद्गार के दृष्टिगत भी इन नियमों-प्रतिमानो की स्थापना आवश्यक थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक नियम व निर्देश बनाए गए जिसमे समाज में रहने योग्य दिशानिर्देशों के अतिरिक्त समाज के सदस्यों के लिए करणीय व अकरणीय कृत्यों का भी निर्धारण किया गया। इसी तरह करणीय कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार तथा अकरणीय कृत्यों को रोकने के लिए दण्ड का विधान भी समाज ने किया। लेकिन स्वार्थ की बुनियाद पर निर्मित समाज के इन नियमों निर्देशों, पुरस्कारों और दण्ड विधानों को भी कालांतर में स्वार्थ की कुल्हाड़ी का प्रतिघात सहना पड़ा। परिणाम स्वरूप अनेक तरह की सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं का प्रादुर्भाव हुआ। सामाजिक नियमों-निर्देशों के अनुपालन में समाविष्ट स्वार्थी प्रवृत्ति से उत्पन्न इन विसंगतियों और विद्रूपताओं ने धीरे-धीरे

समाज की मूल संरचना में असंख्य अवांक्षित घटकों को अंतर्निविष्ट करके न केवल समाज की संरचना को अत्यंत जटिल बना दिया अपितु सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को विद्रूपताओं से भर दिया। परिणाम यह हुआ कि आपसी सहयोग, भौतिक और मानसिक विकास तथा व्यक्तियों को संगठित एवं कर्मशील रखने के उद्देश्य से अस्तित्ववान समाज नामक संगठन विद्रूपताओं का कोषागार बन गया तथा इसके प्रत्येक क्षेत्र में असंगतियों, विविधताओं व जटिलताओं का डंका बजने लगा।

जब बात सामाजिक चेतना की आती है तो उपर्युक्त समाज की संरचना, संरचनागत विविधता और जटिलता, उसकी निर्माण प्रक्रिया, रचनात्मक उद्देश्य तथा उसमे व्याप्त संगतियों-विसंगतियों, अच्छाइयों-बुराइयों आदि का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना ही सामाजिक चेतना कहलाती है। सर्वज्ञात है कि वस्तुओं, व्यक्तियों और पदार्थो आदि की तरह ही समाज के भी दो महत्वपूर्ण पक्ष सकारात्मक और नकारात्मक या वांछनीय तथा अवांछनीय होते है। इसके पहले पक्ष में समाज की अच्छाइयाँ उसके आदर्श, नियम, नैतिकताएँ पारस्परिक संगठन, सहयोग की भावना एवं उसमें संचालित वे सभी गतिविधियाँ जिनसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का कल्याण होता है- सम्मिलित होती हैं। समाज का सकारात्मक पक्ष ही उसका मूल होता है तथा इसी के द्वारा समाज की गतिशीलता, निरंतरता और सामाजिकों का कल्याण संभव होता है।

समाज के नियम, निर्देश, व्यवस्था लोककल्याणकारी कार्य आदि सभी संगतियाँ इसके पहले पक्ष में संदर्भित होती हैं, समाज का दूसरा पक्ष बुराइयों और अवांछनीय घटकों से मिलकर बना होता है तथा इसमें वे सभी अवयव शामिल होते है जो व्यवस्थाओं, नियमों व निर्देशों की अवहेलना तथा स्वार्थजन्य कार्यों व विचारों से प्रादुर्भूत हुए होते हैं। समाज का नकारात्मक पक्ष एक या एकाधिक व्यक्तियों की स्वार्थी प्रवृत्तियों पर आधारित होता है तथा उन्ही की आवश्यकताओं, महत्वांकाक्षाओं की पूर्ति करता है। समाज के प्रत्येक सदस्य

इससे लाभान्वित नहीं होते हैं बल्कि यह कुछेक सदस्यों के लिए लाभकारी तो अधिकांश सदस्यों के लिए हानिकारक होता है। कुल मिलाकर कहें तो समाज का नकारात्मक पक्ष समाज के आरम्भिक या मूल स्वरूप से संदर्भित नही होता है बल्कि यह बाद में अवांछनीय घटकों के सम्मिलन से निर्मित होता है तथा यह समाज के अधिकांश लोगों के अस्तिस्व कुछेक लोगो के हितों से सम्बद्ध होता है। विसंगतियों और विरूपताओं पर केन्द्रित समाज को इस पक्ष में जाति प्रथा, अस्पृश्यता, बाल विवाह, सती-प्रथा, बहू-विवाह, पितृसत्तात्मकता आदि अवांछनीय घटक समय-समय पर सम्मिलित होते रहे है जिन्हें समाज से बहिष्कृत करने के उद्देश्य से यथासमय सामाजिक क्रांतिया या सुधार आन्दोलन भी होते रहे हैं।

ध्यातव्य है कि समाज के सकारात्मक पक्ष की समतुल्यता में समाज का नकारात्मक पक्ष अधिक अस्थाई होता है क्योंकि इसमें जहाँ नित्य-नूतन नवीन विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ जुड़ती रहती है वही सामाजिक आन्दोलनों तथा संवैधानिक व्यवस्थाओं से इन विसंगतियो का यथासमय लोप भी होता रहता है। समाज का सकारात्मक पक्ष भी परिवर्तनशील होता है उसमें भी नित्य-प्रति नवीन व्यवस्थाएं, नियम, कार्य-प्रणालिया ँ ं, मानदण्ड आदि जुड़ते रहते है लेकिन यह परिवर्तन बहुत धीमा एवं समाज के उद्देश्य और उसकी मूल संरचना के सापेक्ष ही होता है।

समाज के उपर्युक्त दोनो पक्षो की प्रवृत्तियों तथा उनमें सम्मिलित घटको का सम्यक ज्ञान रखना ही सामाजिक चेतना कहलाती है। समाज में रहने वाले सदस्य भी दो प्रकार के होते हैं। इनमे से पहली श्रेणी ही उनकी है जो सामान्य प्रज्ञा वाले तथा साधारण सदस्य होते है। ये शिक्षा या सामाजिक उन्नति के लिए अपने समाज की संगतियों-विसंगतियो व अच्छाइयों-बुराइयों आदि का ज्ञान रखते हैं। यद्यपि समाज के साधारण मनुष्यों की प्रज्ञा इस स्तर की नहीं होती है कि वे अपने समाज की संगतियों-विसंगतियों की वास्तविक पहचान, उनका निर्धारण या मूल्यांकन कर सके लेकिन फिर भी वे विभिन्न विचारकों-विद्वानों द्वारा

निर्धारित अच्छाइयों-बुराइयों की समझ और उनका स्थूल ज्ञान अवश्य रखते हैं। समाज के इन दैनंदिन मनुष्यों की सामाजिक चेतना ज्ञान और लोकव्यवहार तक ही सीमित होती है अर्थात् ये अपने समाज की प्रवृत्तियों, घटना-व्यापारों, चित्तवृत्तियों, नियमों, निर्देशों, नैतिकताओं, मानदण्डों तथा उसमें व्याप्त अन्य संगतियों-विसंगतियों का स्थूल और व्यवाहारिक ज्ञान ही रखते हैं तथा इसमें किसी तरह का परिवर्तन या सुधार लाना इनका उद्देश्य नहीं होता है। समाज में रहने वाले दूसरी श्रेणी के मनुष्य वे होते हैं जिनकी प्रतिभा विशिष्ट तथा रचनाधर्मिता एवं मानसिकता विलक्षण किस्म की होती हैं।

ऐसे मनुष्यों में साहित्यकार, सुधारक और विचारक आदि शामिल होते हैं तथा इनकी संख्या अत्यधिक न्यून होती है इन सदस्यों में साहित्य-सर्जक जैसे मनीषियों की सामाजिक चेतना अत्यंत व्यापक सूक्ष्म और लोककल्याणकारी उद्देश्यो वाली होती है। ये अपने समाज की संगतियों-विसंगतियों, अच्छाइयों-बुराइयों आदि का अत्यंत सूक्ष्मज्ञान रखते है। साहित्यकारों की सामाजिक चेतना अनन्य किस्म की इसलिए भी होती है क्योंकि साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, समाज में जो कुछ भी घटित होता है उसकी जैसी परिस्थितियाॅं-प्रवृत्तियाॅं होती है उन्ही का प्रतिबिम्बात्मक चित्रण साहित्य में होता है अर्थात् समाज ही साहित्य-सृजन का आधार होता है। यदि अपनी संगतियों-विसंगतियों के चित्रण के रूप में समाज, साहित्य को विषयवस्तु न प्रदान करे तो स्वानुभूति आधारित साहित्य की आत्मकथा विधा को छोड़कर अन्य किसी विधा में साहित्य-सृजन संभव नहीं होगा। इस लिए आवश्यक है कि अपनी रचनाओं में प्रयोगार्थ आवश्यक विषयवस्तु के लिए रचनाकार की सामाजिक चेतना विशिष्ट प्रकार की हो और होता भी यही हैं। साहित्यकार अपने समाज के दोनों पक्षो का यथेष्ट ज्ञान रखता है। वह उसमें व्याप्त संगतियों, सकारात्मकताओ, अच्छाइयों, विसंगतियों, नकारात्मकताओ और बुराइयों का केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान ही नहीं रखता है अपितु इनके पहचान और मूल्यांकन की सामर्थ्य भी रखता है।

दरअसल साहित्यकार का उद्देश्य अपनी सर्जनाओ के लिए विषयवस्तु के अनुसंधान तक ही सीमित नहीं होता है अपितु व्यापक लोककल्याण का उद्देश्य भी रखता है जिसके कारण उसकी सामाजिक चेतना समाज के विविध पक्षों के सघन ज्ञान तक ही संकुचित न होकर समाज के नकारात्मक अर्थात् विसंगतियो और विद्रूपताओं वाले पक्ष में सुधार तक प्रकीर्णित होती है। सर्जको की इन्ही व्यापक उद्देश्यो वाली विलक्षण सामाजिक चेतना के कारण ही साहित्य एवं समाज का प्रतिविम्बात्मक संबंध बना रहता है तथा साहित्य, समाज का कल्याण करने, उसकी गतिशीलता को सुनिश्चित करने, उसमें व्याप्त असंगतियों को दूर करने तथा उसका समुचित दिशानिर्देश करने में सफल रहता है।

किसी समाज की संतुलित प्रगति के लिए उसमे रहने वाले दोनो प्रकार के सदस्यों अर्थात् सामान्य प्रज्ञा और प्रतिभा वाले दैनिक मनुष्यों एवं विशिष्ट रचनाधर्मिता तथा कारयित्री-भावयित्री प्रतिभा के संपोषक साहित्यकार जैसे नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा वाले मनुष्यों की सामाजिक चेतना महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। साहित्य-सर्जको की सामाजिक चेतना तो विलक्षण होती ही है, इन्हें तो समाज की अच्छाइयों-बुराइयों, संगतियों-विसंगतियों, गुणों-अवगुणों आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान तो होता ही है लेकिन ऐसे सामाजिक सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है। इसके विपरीत समाज के साधारण सदस्यों की संख्या अधिक होती है और यही सामाजिक संरचना के मूल में होते हैं। वस्तुत: समाज व्यक्तियों का ही समूह होता है तथा रचनाकार जैसे विशिष्ट प्रतिभा वाले सदस्य भी प्रथमतःव्यक्ति ही होते है इसलिए समाज के चतुर्मुखी अभ्युत्थान व विकास के लिए व्यक्तियों की सामाजिक चेतना विशेष महत्व रखती है। जब समाज के सदस्य अपनी परिस्थितियों, आवश्यकताओ, समस्याओं आदि के प्रति जागरुक ही नही होंगे या उन्हें इनका ज्ञान ही नहीं होगा तब वे अच्छे-बुरे, वांछनीय-अवांछनीय, सकारात्मक-नकारात्मक, संगतियों-विसंगतियों आदि घटकों के बीच विभेद कैसे कर पाएंगे और यथेष्ट विभेद के अभाव में समाज के नकारात्मक पहलुओं को दूर करने का प्रयास कैसे करेंगे? क्योंकि सामाजिक समस्याओं के निराकरण

हेतु प्रयासरत होने से पूर्व असमस्याओं की सही पहचान करना आवश्यक होता है इसलिए समाज के साधारण सदस्य हो या विशेष-दोनो की सामाजिक चेतना परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, घटनाओं संगतियों-विसंगतियों और जनता की चित्तवृत्तियों के ज्ञान के साथ-साथ नीर-क्षीर विवेकी किस्म की भी होनी चाहिए अर्थात् दोनों प्रकार के सदस्यों में सही-गलत, उचित-अनुचित, गुण-दोष, आवश्यक-अनावश्यक तथा संगति-विसंगति में सामान्य विभेद कर सकने योग्य मानसिक सामर्थ्य अनिवार्यरूप से होनी चाहिए। कारण यह है कि मनुष्य का सामाजिक आयाम अत्यधिक व्यापक होता है। जिन आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन क्षेत्रो की चर्चा हमे आगे करनी है वे भी मूलत: जीवन के सामाजिक पक्ष के अंतर्गत ही आते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही इन्हें स्वतंत्र प्रकरणो के अंतर्गत रखा जाता है अन्यथा आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन-क्षेत्र के अभाव में जीवन का सामाजिक पक्ष पूर्ण ही नहीं हो सकता है इसलिए समाज एवं राष्ट्र के विकास के लिए उन्नत सामाजिक चेतना अपरिहार्य होती है।

सामाजिक समस्याओं के समाधान या फिर विसंगतियो के निदानार्थ जो प्रयत्नात्मक पुरुषार्थ किया जाता है वह सामाजिक चेतना की ही परिणति होता है। सामाजिक चेतना की अनुपस्थिति में सामाजिक गत्यात्मकता एवं उसका पोषण-संरक्षण कदापि संभव नहीं होगा। सामाजिक जीवन के प्रति जो चेतना होती है वही सामाजिक चेतना का भी स्तर होती है और इसकी वर्तमानता व्यक्तिमूलक एवं समाजमूलक दोनो होती है तथा व्यक्ति चेतना सामाजिक चेतना की ही एक प्रकृति होती है। डॉ० सोमनाथ शुक्ल के शब्दो में- "सामाजिक चेतना ने व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व और व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों के स्वरूप को निर्धारित और नियंत्रित किया है। सामाजिक चेतना की सार्थकता प्रत्येक मानवीय समस्या पर सामूहिक दृष्टि से विचार करता है। सामाजिक चेतना ने आधुनिक युग में अधिकाधिक विस्तार प्राप्त किया है। व्यक्ति, उसका मन और महत्वाकांक्षा, परिवार और परिवेश, समाज, संरचना, और स्वरूप, सामाजिक न्याय-अन्याय, सामाजिक नीति और अनीति, धर्म और

आध्यात्म, राज्य और राजनीति, शांति और समर आदि सभी सामाजिक चेतना के अंतर्गत विचार योग्य है।" सामाजिक चेतना की प्रकृति विकासात्मक होती है अभावात्मक या रूढ़िवादी नहीं। व्यक्ति में चेतना वर्तमान अवश्य रहती है लेकिन अशिक्षा, अज्ञानता आदि कारणों से वह कुंठित भी हो जाती है लेकिन जब समाज में कोई नवीन विचारधारा, घटना परिवर्तन या प्रवृत्ति प्रविष्ट करके अपने उद्देश्य व लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है तब सामाजिक विचारधारा जो अभी तक सुषुप्त थी जागृत हो जाती है।

इसी जागरण को सामाजिक चेतना के अर्थ से अभिहित किया जाता है। दरअसल सामाजिक चेतना सरित प्रवाह की तरह विकसित होती रहती है यह चेतना विच्छिन्न नहीं होती बल्कि भिन्न-भिन्न सामाजिक समस्याओं, राजनीतिक गतिविधियों, धार्मिक सांस्कृतिक और आर्थिक विषमताओं से संबंधित नागरिक जीवन की समानतामूलक विकासात्मक भावना ही सामाजिक चेतना है। इसी तरह डॉ॰ अमर सिंह लोधा ने सामाजिक चेतना को पारिभाषित करते हुए कहा है कि- "सामान्यतःसामाजिक चेतना से हम किसी देश एवं काल विशेष से संबंधित मानव-समाज में अभिव्यक्त परिवर्तनशील जागृति समझते हैं। यह प्रतिक्रियात्मक भी हो सकती है। जन-जीवन में लक्षित यह जागृति या सामाजिक चेतना तत्कालीन जीवन में उत्पन्न अप्रत्याशित गतिरोधो एवं गतिशीलता से उत्पन्न हो सकती है। इसके पीछे सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियाँ प्रेरणात्मक हो सकती है।" सोमनाथ शुक्ल के शब्दो में सामाजिक चेतना का अभिप्राय है - "मानवीय इतिहास के अतीत, आधुनिक तथा आगत कालो के एक अथवा अनेक व्यक्तियों की सामाजिक समस्याओं और समाधान के संदर्भ में सजगता और सक्रियता।"

डॉ॰ ललिता अरोड़ा की दृष्टि में "सामाजिक चेतना से यही तात्पर्य है कि उपन्यासकार (साहित्यकार) समाज की विविध क्षेत्रीय स्थितियों के प्रति सजग और अपनी कृति में इन सामाजिक संबंधों को स्थान दे सका है।" इस संदर्भ में डॉ॰ रत्नाकर पाण्डेय का अभिमत है

कि- "सामाजिक चेतना अभावात्मक या नकारात्क नहीं होती। व्यक्तिमात्र चैतन्य मूर्त है, परन्तु रूढ़ि, अशिक्षा और अभावों के कारण वह दुष्प्रभावी तथा कुंठित हो जाती है। इस दुष्प्रभाव से मुक्त रहना और कुंठा की अपनी अंतर्वृत्ति से उसे तिरोहित बनाए रखना ही सार्वजिक चेतना है।" डॉ० सुषमा गुप्त के अनुसार- "सामाजिक चेतना व्यक्तिमूलक और समाजमूलक दोनों रूपों रूपों में रहती है। व्यक्ति चेतना सामाजिक चेतना का ही एक रूप है। व्यक्तिमूलक सामाजिक चेतना व्यक्ति के दो छोरो का प्रकट करती है।...सामाजिक चेतना से अभिप्राय हुआ सामाजिकता की आत्मा अर्थात् उसके वे मूलभूत गुण जिनके कारण सामाजिक चेतना इस संज्ञा से अभिहित होती है। आत्मा के उदात्त आशय, सभ्यता या संस्कृति के सम्पूर्ण तत्वों तथा समाज की उद्वेगजनक स्थितियों की अवधारणा को सामाजिक चेतना कहते हैं। जातीयता, सार्वजनिकता युग की संघर्षपूर्ण स्थिति की व्यंजकता सबको एक साथ मिलाकर सामाजिक चेतना का नाम दिया जा सकता है। जीवन और जगत की विराटता का वैविध्यपूर्ण चित्रांकन, विशिष्ट जीवन-दर्शन, शाश्वत मानव प्रश्नों और मूल्यों की स्थापना आदि से सामाजिक चेतना की झलक मिलती है। परम्परागत आचार-विचारों का परिष्कार कर उन्हें युगीन रूप में प्रस्तुत करने में सामाजिक चेतना विहित है।"

सामाजिक चेतना की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक चेतना समाज में वर्तमान विविध समस्याओं एवं अंतर्द्वंद्वो का उपचार मात्र ही नहीं बल्कि सामाजिक विसंगतियो और विद्रूपताओं के प्रति सामाजिको को सचेत बनाने का प्रयास भी है तथा उसी के आधार पर प्रत्येक साहित्य-सर्जक अपनी उत्कृष्ट सर्जनाओं के माध्यम से न केवल समाज का सम्यक दिशा निर्देशन करता है बल्कि प्रत्येक तरह से उसका कल्याण भी करता है। सामाजिक चेतना का स्वरूप अत्यंत सुविस्तृत होता है तथा इसके अंतर्गत मानव मन में प्रादुर्भूत ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक सामाजिक प्रवृत्तियों, परिर्वतनों की समग्र मानवतावादी एवं लोककल्याणकारी भावनाएँ समाविष्ट की जा सकती हैं। सामाजिक चेतना ही व्यक्ति को प्राणवान बनाए रखती है तथा यही सामाजिक

संगठन को सदृढ़ बनाती है। सामाजिक चेतना एवं समाज के सदस्यों के सामाजिक चरित्र में आधारभूत संबंध सुस्थित होता है। प्रत्येक सामाजिक अपनी अंतश्चेतना से प्रादुर्भूत प्रेरणा के कारण ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का कार्य करता है तथा उसकी यह अंतश्चेतना सामाजिक उपक्रम का ही परिणाम होती है। इस चेतना के तीन स्टर चेतन, अवचेतन अथवा अर्धचेतन तथा अचेतन- होते हैं जिनका वर्णन-विवेचन पूर्व प्रकरण में किया जा चुका है।

2.3.2- आर्थिक चेतना-

जैसा कि पूर्ववर्ती प्रकरण में अभिकथित हो चुका है कि आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृति एवं साहित्यिक आदि जीवन-क्षेत्र सामाजिक-जीवन के ही परिक्षेत्र होते हैं। मनुष्य-जीवन का सामाजिक पक्ष इतना अधिक सुविस्तृत होता है कि उसके साथ इसके उपक्षेत्रों का अध्ययन-अनुशीलन संभव नहीं हो सकता है इसलिए समाज या राष्ट्र के इन जीवनांगों के स्वतंत्र विवेचन की परम्परा रही है। व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र-उसके लिए आर्थिक जीवन क्षेत्र दूसरे अन्य जीवन-क्षेत्रों की समतुल्यता में कई गुना अधिक महत्वपूर्ण होता है। दरअसल मनुष्य जीवन के जितने भी भी पक्ष होते है फिर चाहे वे सामाजिक या राजनीतिक हो या फिर धार्मिक या सांस्कृतिक सभी आर्थिक परिक्षेत्र द्वारा ही संचालित-नियंत्रित होते हैं।

मानव-सभ्यता के विकास के आरम्भिक सोपान पर जब तक मुद्रा प्रणाली अस्तित्व में नहीं आई थी तब मनुष्य जीवन अर्थ का अधिक महत्व नहीं था लेकिन जैसे-जैसे मानवीय सभ्यता विकसित होती गयी वस्तु विनिमय की प्रणाली समाप्त होती गयी वैसे-वैसे मनुष्य-जीवन में अर्थ की महत्ता बढ़ती गयी। बीच के कालखण्ड में सामंतवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था ने आधुनिक युग में भूमण्डलीकरण तथा बाजारवाद जैसी अवधारणाओं ने इस प्रवृत्ति को धकेलकर उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उत्तर-आधुनिकता के वर्तमान दौर ने तो जीवन और अर्थ को परस्पर पर्याय बना दिया है। जिसके पास जितना अधिक धन है वह उतना ही अधिक सबल, समर्थ और सफल है। अधिक से अधिक संसाधनों पर अधिकार

रखने वाला, अधिकाधिक प्राकृतिक और मानव-संसाधनो का दोहन करने वाला व्यक्ति आज अर्थ के आधार पर पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, न्याय, अधिकार आदि सभी कुछ प्राप्त या अधिगृहीत कर सकता है जबकि अर्थहीन व्यक्ति के लिए आज का जीवन नरकीय बन चुका है। धन या सम्पदाविहीन व्यक्ति का जीवन रोटी, कपड़ा व मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के अभाव में ही नहीं व्यतीत होता बल्कि उसे मान-सम्मान, सामाजिक संवैधानिक न्याय व अधिकार आदि से भी वंचित होना पड़ता है। कुल मिलाकर कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य-जीवन का आर्थिक परिक्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वाधिकार सम्पन्न तथा अन्य-जीवन क्षेत्रों को संचालित-नियंत्रित करने वाला बन गया है। इसकी जीवनगत महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आर्थिक रूप से संपन्न शूद्रवर्षा व्यक्ति भी समाज में ब्राह्मण से अधिक सम्मान प्राप्तकर सकता है जबकि अर्थहीन या अकिंचन ब्राह्मण को समाज में दलितों जितना भी सम्मान प्राप्त नहीं होता। इसी तरह वोटों, सांसदों, विधायकों यहाँ तक कि सरकारों की खरीद-फरोष्ट द्वारा यह जीवन के राजनीतिक परिक्षेत्र को पर्याप्त रूप से प्रभावित करता है।

धार्मिक आडम्बरों, कर्मकाण्डों, खान-पान, वेश-भूषा आदि सांस्कृतिक घटको के आधार पर पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण करने में अर्थ की महती भूमिका होती है। धनाभाव में न तो हम रामचरितमानस के। पाठ का आयोजन करवा सकते हैं और न ही किसी तरह का लक्जरी जीवन ही व्यतीत कर सकते हैं। अभिकथन का अभिप्राय यह है कि वर्तमान मनुष्य-जीवन के प्रत्येक परिक्षेत्र पर आर्थिक क्षेत्र का प्रबल प्रभाव तो है ही, साथ ही यही जीवन क्षेत्र उसकी समग्र जीवन स्थिति का नियंत्रक, निर्धारण और संचालक बन चुका है।

सामाजिक जीवन-क्षेत्र की भाँति ही आर्थिक जीवन-क्षेत्र के भी दो अनिवार्य ध्रुव सकारात्मक-नकारात्मक, संगत-असंगत या अच्छे-बुरे होते हैं। इन्हीं दोनों पक्षों का सम्यक

ज्ञान रखना आर्थिक चेतना कहलाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की अतीत, वर्तमान एवं भविष्य की आर्थिक परिस्थितियों-प्रवृत्तियों, घटनाओं या क्रिया-कलापो का ज्ञान रखना या उनका अनुमान लगाना ही आर्थिक चेतना का अभिप्राय होता है। एक सकारात्मक या संगत आर्थिक चेतना किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के पास विद्यमान आर्थिक संसाधनों, आय और आय के स्रोतो, व्यय के विवरणों, संसाधनों के वितरणों आदि के अतिरिक्त लक्जरी जीवन की विशेषताओं, समाज या राष्ट्र के स्तर पर चलाए जाने वाले आर्थिक नियोजनों सरकारी व्यवस्थाओं तथा सरकार द्वारा चलायी जा रही लोककल्याणकारी योजनाओं आदि के ज्ञान पर आधारित होती है जबकि असंगत या नकारात्मक आर्थिक चेतना व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की आर्थिक विसंगतियों से संदर्भित होती है। इस दूसरे प्रकार का आर्थिक ध्रुव पहले प्रकार के आर्थिक पक्ष में विसंगतियों एवं अवांछनीय घटकों के अन्तर्वेशन से निर्मित होता है इसलिए इसके अंतर्गत केवल आर्थिक विसंगतियाँ और उन विसंगतियों से उद्भूत विद्रूपताएँ ही सम्मिलित होती है। गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी, दरिद्रता, वस्त्र एवं आवास हीनता, योजनाओं की विफलता, सरकारी योजनाओं की फाइलो तक ही सीमित रह जाना, गलत आर्थिक नियोजन, संसाधनों का असमान वितरण, सरकारी उपेक्षा, योजनाओं का अनुचित क्रियान्वयन अधिकारियो की घूसखोरी, सड़क एवं परिवहन प्रणाली का अल्प विकास, ग्रामीण सड़कों का अभाव, शहरीय तथा ग्रामीण जीवन में के बीच कनेक्टविटी का अभाव सूचना व संचार प्रणाली की सकीर्णता, देश के प्राकृतिक और मानव संसाधनों पर पूँजीवाद तथा बाजारवाद का प्रभाव, भूमण्डलीकरण अथवा वैश्वीकरण जैसी अवधारणा से उपजी बाजारवादी व्यवस्था, कृषि व्यवस्था में समुचित प्रबंधन का अभाव, कृषि उपजों के उचित मूल्य निर्धारिण की समस्या, आधुनिक कृषि यंत्रों एवं तकनीकी की उच्च लागत सिंचाई की समुचित व्यवस्था का अभाव, वर्षा आधारित कृषि व्यवस्था, सूखा, बाढ़ एवं अकाल जैसी प्राकृतिक आपदाएँ, उद्योग-धंधो के द्वारा श्रमिको का क्रिया जाने वाला शारीरिक-आर्थिक शोषण श्रम-संगठनो का अभाव

तथा बेगारी की प्रथा आदि असंख्य, आर्थिक घटक आर्थिक जीवन क्षेत्र के असंगत या नकारात्मक पक्ष से संदर्भित होते हैं। धातव्य है कि सकारात्मक पक्ष के समतोलन में आर्थिक जीवन का नकारात्मक पक्ष बहुत अधिक विस्तीर्ण आयामों वाला होता है और विस्तीर्णता का अधिकांश उत्तरदायित्व सरकारों तथा सरकारी तंत्रों की विफलता का होता है।

अब एक साधारण व्यक्ति की आर्थिक चेतना अपने समाज या राष्ट्र की आर्थिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, घटनाओं और क्रियाकलापों के ज्ञान तक ही सीमित होती है जबकि साहित्यकार जैसे विशिष्ट प्रज्ञाशील मनुष्य अपनी सर्जनाओं में आर्थिक जीवन के दूसरे अर्थात् विसंगतियों वाले पक्ष के यथार्थपरक शब्दांकन को ही अधिक महत्व देते हैं। इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि साहित्य की आर्थिक चेतना अपने अतीत या वर्तमान, समाज व राष्ट्र की आर्थिक विद्रूपताओं के चित्रण से ही घनिष्ठ संबंध रखती है जबकि साहित्य में आर्थिक जीवन के सकारात्मक पहलुओं का वर्णन-विवेचन बहुत कम ही देखने को मिलता है। कारण यह है कि एक तो आर्थिक जीवन का दूसरा या नकारात्मक पहलू बहुत अधिक विस्तीर्ण होता है तथा इसके अंतर्गत समाज या राष्ट्र का बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग आ जाता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विसंगतियों की वीभत्सता इतनी अधिक होती है कि यह अपनी परिधि में आने वाले मनुष्य को पशु बना देती है। इसलिए रचनाकार अपनी रचनाओं की विषयवस्तु में इन आर्थिक असंगतियो के चित्रण को ही अधिक महत्व देते हैं जिसका प्रमुख उद्देश्य देश के कर्णधारों तथा नीति-नियंताओं का इनकी तरफ ध्यान आकर्षित करना होता है जिससे वे इनके निदानार्थ कुछ कर सकें। रचनाकार के संदर्भ में आर्थिक जीवन-क्षेत्र संबंधी उसकी यही चेतना आर्थिक चेतना कहलाएगी।

2.3.3 राजनीतिक चेतना

राजनीति भी सामाजिक जीवन का एक अभिन्न एवं महत्वपूर्ण अंग होती है। किसी देश की शासकीय व्यवस्था के संचालन तथा संबंधित देश के दूसरे देशों के साथ संबंधों के निर्धारण में इसकी महती भूमिका होती है। प्राचीन राजतंत्रात्मक व्यवस्था हो या फिर मध्यकालीन आक्रमणकारी व्यवस्था, औपनिवेशिक शासन की व्यवस्था हो या फिर आधुनिक, संवैधानिक व्यवस्था- सभी में राजनीति प्रभावकारी या केन्द्रीय भूमिका में होती है। दरअसल राज करने की नीति को ही राजनीति कहा गया है अर्थात् किसी भौगोलिक या जनसंख्यात्मक भाग पर राज या शासन करने का गुर सिखाने वाली व्यवस्था ही राजनीति कहलाती है। यह शासन छोटे स्टर से लेकर बड़े स्तर तक अर्थात् गाँव से लेकर राष्ट्र तक प्रकीर्णित होता है। ग्राम स्तर पर ग्राम प्रधान और राष्ट्र के स्तर पर प्रधानमंत्री इस शासन व्यवस्था या राजनीति के प्रमुख प्रतिनिधि होते हैं। मनुष्य जीवन से राजनीति का संबंध तब से रहा है जब वह कबिलाई जीवन व्यतीत करता था। राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अस्तित्व में आने के उपरांत इनकी महत्ता और भी बढ़ी। इस व्यवस्था में राजा राजनीति का नियंत्रक एवं सर्वोच्च प्रतिनिधि तथा अन्य मंत्रिगण उसके सहायक होते थे। इस शासन प्रणाली में समस्त राजनीति राजा की स्वेच्छाचारिता के इर्द-गिर्द ही घूमती थी। मध्यकाल में मुस्लिम आक्रांताओं ने राजनीति को एक ही व्यक्ति (शासक) तक केन्द्रित करके इसकी स्वेच्छाचारिता को और भी कठोर बना दिया। मुस्लिम आक्रांता चाहकर भी राजनीति का विकेन्द्रीकरण नहीं कर सकें। कमोवेश सुधार के साथ यही व्यवस्था कंपनी शासन तथा औपनिवेशिक काल में भी चलती रही लेकिन सामंतवादी व्यवस्था के चलते अब तक धीरे-धीरे राजनीति का विकेन्द्रीकरण होने लगा था और अब देश को देशी रियासतों की जगह प्रांतों, जनपदों, कस्बों आदि में विभक्त कर उनके संचालन-नियंत्रण हेतु अलग-अलग पदाधिकारी नियुक्त कर दिए गये थे।

स्वाधीनंता प्राप्ति के अंनंतर भारतीय राजनीति पूर्णत: विकेन्द्रीकृत हो गयी, क्योंकि अब इसका संचालन संविधान के अनुसार लोकतंत्रात्मक तरीके से होने लगा। जनता का जनता

के लिए तथा जनता के द्वारा वाली लोकतंत्रात्मक राजनीति में जनता की अधिक से अधिक भागीदारी के लिए राजनीति का विकेन्द्रीकरण करके इसे देश, राज्य, जिला, नगरपालिका, नगर पंचायत क्षेत्र, प्रखण्ड और गाँव के स्तर तक विभाजित करते हुए परिसीमन आयोग बनाकर सभी की सीमाएँ निर्धारित कर दी गयी। यद्यपि राजनीति के इस विकेन्द्रीकरण से राजनीतिक प्रशासन, नियमन-व्यवस्थापन तथा नीति निर्धारण आदि में व्यापक जनभागीदारी को बढ़ावा तो मिला लेकिन राजनीति का यह विभाजन अनेक स्तरों पर होने के कारण इसमें संख्यातीत विसंगतियाँ भी प्रादुर्भूत हुई। ध्यातव्य है कि राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली में स्वेच्छाचारिता अथवा निरंकुशता होती है और इसमें एक ही व्यक्ति के व्यक्तिगत विचारो आकांक्षाओं आदि को समग्र राष्ट्र पर थोप दिया जाता है लेकिन इसमें राजनीति के संकेन्द्रण के कारण अधिक राजनीतिक विसंगतिया प्रादुर्भूत नहीं होने पाती हैं। कुछेक राजतंत्रात्मक देशों में तो सत्ताधारी पार्टी के अतिरिक्त दूसरा दल बनाने की अनुमति भी नहीं होती है, ऐसे में राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक विद्रूपताएँ भी न्यून हो जाती हैं। इसके ठीक विपरीत लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में राजनीति संवैधानिक नियमों के अनुरूप चलती है। शासन और राजनीति में जनता को अधिक से अधिक भागीदारी देने के उद्देश्य से इसमें राजनीति को अनेक सोपानों तक विभाजित कर दिया जाता है जिसके कारण इस व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा अपने चरम पर होती है। जहाँ अधिक प्रतिस्पर्धा होती है वहाँ विसंगतियाँ भी अधिक होती हैं क्योंकि जब महत्वाकांशी व्यक्ति में प्रतिस्पर्धा करने की सामर्थ्य नहीं होती है तब वह अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए नियमों व्यवस्थाओं की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करता है, परिणाम स्वरूप राजनीतिक विद्रूपताओं का जन्म होता है।

सामाजिक एवं आर्थिक जीवन-क्षेत्र की तरह ही राजनीतिक जीवन-क्षेत्र भी संगत और असंगत, अच्छा व बुरा एवं सकारात्मक तथा नकारात्मक नामक दो पहलुओं से मिलकर बना होता । इसका प्रथम या संगत पक्ष जहाँ संकीर्ण व लोक हितकारी होता है वही दूसरा

अर्थात् असंगत पक्ष अत्यधिक व्यापक और अहितकारी प्रकृति का होता है। राजनीतिक जीवन क्षेत्र के पहले छोर में अवांछनीय कारको के प्रविष्टकर जाने तया दलगत स्वार्थ आधारित राजनीति के कारण ही इसके दूसरे छोर का निर्माण होता है। इसमें राजनीतिक दलों की महत्वाकांक्षाएँ और स्वार्थी नीतियाँ केन्द्रीय भूमिका निभाती हैं।

अतीत, वर्तमान या भविष्य की राजनीति के इन्हीं दोनो पहलुओं का सम्यक ज्ञान रखना राजनीतिक चेतना कहलाती है। इस राजनीतिक चेतना के सकारात्मक पक्ष में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ राष्ट्र से लेकर गाँव तक की राजनीति के प्रत्येक स्तर का लाभ, व्यापक जनभागीदारी, लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था की प्रासंगिकता, स्वेच्छाचारी शासन से मुक्ति, वोट देने का अधिकार, निर्वाचित होने का संवैधानिक अधिकार, राजनीतिक दलों की स्थापना का अधिकार, संवैधानिक अधिकार, कानून बनाने को अधिकार, विभिन्न लाभकारी योजनाओं प्रवर्तन आदि घटक सम्मिलित होते हैं। राजनीतिक चेतना का असंगत पहलू राजनीतिक विद्रूपताओं मसलन-वोट बैंक की राजनीति, दलबदल प्रणाली, वोटों, सांसदों, विधायको आदि की खरीद-फरोख्त अथवा धनबल और बाहुबल के आधार पर जबरन मतदान करवाना, चुनावों की फिजूलखर्ची और अधिकता, राजनीतिक वादा खिलाफी तथा राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं आदि से संदर्भित होती है। साधारण सामाजिकों की राजनीतिक चेतना ज्ञान के अर्थ में राजनीति के इन दोनों पक्षों की जानकारी से संबंधित होती है जबकि साहित्यकार जैसे मनीषियों की राजनीतिक चेतना इसके दूसरे अर्थात् विसंगतियों वाले पहले से अधिक घनिष्ठ सरोकार रखती है। वस्तुतः साहित्य की राजनीतिक चेतना समसामयिक राजनीति के क्षेत्र में प्रकीर्णित विसंगतियों और विद्रूपताओं के चित्रण से ही संदर्भित होती है। कारण यह है कि इन असंगतियों को अपनी रचनाओं की विषयवस्तु में स्थान देकर एक तरफ जहाँ रचनाकार अपने साहित्यिक एवं नैतिक उत्तरदायित्वों का निवर्हन करता है वहीं दूसरी तरफ इनके यथार्थपरक शब्दांकन के द्वारा सामाजिको, नीति-नियंताओं तथा देश के कर्णधारों का इनकी ओर ध्यान आकर्षित कराकर साहित्य के अपने सामाजिक उत्तरदायित्व

का भी समुचित निवर्हन करता है तभी तो दैनिक मनुष्यों के समतोलन में रचनाकार की राजनीतिक चेतना अन्यतम किस्म की होती है। दरअसल सामाजिक चेतना का प्रकटन राजनीतिक क्रियाकलापों के माध्यम से अधिक सहजता और यथार्थता के साथ होता है इसलिए राज्य और उसके निवासियों के आपसी संबंधों, राजनीतिक घटनाओं तथा क्रिया-कलापों की प्रभविष्णुता और विविध राजनीतिक संगठनों व संस्थाओं व कार्य-व्यवहारों आदि का अध्ययन-अनुशीलन राजनीतिक चेतना का प्रमुख विषय बन जाता है। राजनीतिक चेतना समाज, साहित्य और संस्कृति से घनिष्ठता के साथ संबंधित होती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्यकार के लिए राजनीतिक चेतना को विशेष महत्व का विषय मानते हैं। उनके अनुसार- "एक सजग आधुनिक लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह इस बात की जानकारी भी रखता हो कि उसके समय की राजनीतिक गतिविधियों तथा तत्संबंधी चिंतन में कौन-सा पक्ष ऐसा है जो समाज के वृहत्तर हित की रक्षा करने में तथा उसको गति देने में सहायक हो सकता है। अर्थात् सच्चा राजनीतिक बोध राजनीति के सामाजिक आधार और उसके विकास की सही दिशा की पहचान का ही नाम है।" समसामयिक साहित्य-सर्जको के लिए राजनीतिक चेतना का महत्व और भी बढ़ गया है। कारण यह है कि वर्तमान की विसंगतिव्यापी राजनीतिक परिस्थितियों ने लोकजीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। रोजमर्रा होने वाले चुनावों तथा दलगत राजनीति ने समाज को असंख्य टुकड़ों में विभाजित कर दिया है। इसी तरह से राजनीतिक दलों की निरंकुशता, नेतृत्व को अक्षमता, अनुशासनहीनता, अनावश्यक शक्ति-प्रदर्शन एवं निकृष्ट स्वार्थपरायणी मनोवृत्ति में राजनीति के सभी आदर्शो को निगल लिया है जिसके परिणामस्वरूप राजनीति की रोटी वोट बैंक के तवे पर से की जाने लगी है। लोकजीवन में व्याप्त साम्प्रदायिक-धार्मिक विद्वेष, जातिगत भेदभाव तथा भ्रष्टाचार आदि अवांछनीय घटक, स्वार्थ आधारित राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की ही देन हैं। भारत में लोकतंत्र का उदय इसे एक नया सबेरा प्रदान करने के उद्देश्य से हुआ था वही लोकतंत्र इन राजनीतिक विद्रूपताओं के कारण

आत्महत्या करने को विवश हो गया है। इस लोकतंत्र की रक्षा करने में साहित्य की राजनीतिक चेतना प्रभावशाली भूमिका निभा सकती है और निभा भी रही है।

2.3.4 धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना

जो सबके धारण करने योग्य हो वही धर्म कहलाता है। धर्म मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक अथवा अभौतिक पक्ष से अंतर्संबधित होता है। यह किसी विशेष मानव समुदाय द्वारा प्रकृति अज्ञात सत्ता के एक या एकाधिक स्वरूपों के प्रति श्रद्धा और विश्वास होता है जिसके आधार पर संबंधित समुदाय के सदस्यों की अप्रत्यक्ष रूप से कठिन से कठिनतम कार्य करने की प्रेरणा और ऊर्जा की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त धर्म एक ऐसा नियम भी होता है जिसके यथेष्ट अनुपालन से समाज में आदर्श, नैतिकता और मानवता की स्थिति बनी रहती है। धर्म, समाज और मनुष्य तीनों एक दूसरे से घनिष्ठता के साथ संबंधित होते हैं। कोई भी व्यक्ति अथवा सभ्य समाज धर्म के अभाव में अपनी अस्मिता को अधिक दिनों तक संरक्षित नहीं रख सकता है और न ही ऐसी अवस्था में उसकी मानसिक एवं भौतिक उन्नति ही संभव हो सकती है। यद्यपि धर्म के मूल या आरम्भिक स्वरूप में इसका संगत अथवा सकारात्मक पक्ष ही था लेकिन कालांतर में इसके मूल स्वरूप में अनेक अवांछनीय कारको ने समाविष्ट होकर इसके दूसरे अर्थात् असंगत या बुरे पक्ष का निर्माण कर दिया। उसके बाद से धर्म का यह दूसरा पक्ष निरंतर पल्लवित, पुष्पित और संवर्धित होता रहा है। बीसवीं शताब्दी के अंत तक तो धार्मिक जीवन का यह दूसरा पक्ष अपने प्रकर्ष पर था लेकिन इक्कीसवीं सदी के वर्तमान दौर में पाश्चात्य शिक्षा, वैज्ञानिक तकनीकी अनुसंधान, सूचना क्रांति, भूमण्डलीकरण व बाजारवाद आदि के चलते यह कुछ कमजोर अवश्य हुआ है, लेकिन पूर्णतःसमाप्त अभी भी नहीं हुआ है और शायद न कभी होगा। अपने देशकाल और वातावरण के अनुरूप इतिहास या वर्तमान की धार्मिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, घटनाओं तथा क्रियाकलापो आदि का समर्पित ज्ञान रखना ही धार्मिक चेतना कहलाती है। इस चेतना

में धार्मिक जीवन के दोनों पक्ष सम्मिलित होते हैं। व्यक्ति की धार्मिक चेतना का संगत या सकारात्मक पक्ष जहाँ धर्म के इतिहास, मनुष्य के लिए इसकी आवश्यकता, सामाजिक उपादेयता, धर्म के अनुपालन की प्रक्रिया आदि से संदर्भित होता है वही इसका असंगत या नकारात्मक पक्ष विविध प्रकार के धार्मिक आडम्बरों तथा कर्मकाण्डों आदि से सम्बद्ध होता है।

ध्यातव्य है कि आडम्बर या कर्मकाण्ड उन धार्मिक अनुष्ठानों या क्रियाकलापों को कहा जाता है जो न तो तार्किक होते हैं और न ही वैज्ञानिक बल्कि इनका प्रादुर्भाव विभिन्न समयावधियों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति के उद्देश्य से किए गए कार्यो से होता है। एक सामान्य व्यक्ति की धार्मिक चेतना ज्ञान की प्रवृत्ति में धर्म के दोनो स्वरूपों तक व्याप्त होती है जबकि साहित्यकारों की धार्मिक चेतना, धार्मिक विसंगतियों और विद्रूपताओं के यथार्थपरक चित्रण पर अधिक केन्द्रित होती है साहित्य की धार्मिक चेतना में धार्मिक आडम्बरों व कर्मकांडों आदि को ही कथावस्तु का आधार प्रदान करने हेतु रचनाकार अधिक प्रतिबद्ध रहते है। दरअसल सामाजिक समस्याओं के सम्यक निदान तथा व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का परिष्कार कर विश्वशांति की स्थापना करने में धार्मिक चेतना की आधारिक भूमिका हो सकती है। साहित्य के संदर्भ में धार्मिक चेतना से अभिप्राय उन तथ्यों अथवा घटकों से है जिनके माध्यम से सहृदय पूर्व या वर्तमान के धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं के मूल स्वरूप का अभिज्ञान प्राप्त करते हुए उन्हीं के अनुरूप आचरण व व्यवहार कर स्वयं का, अपने समाज व राष्ट्र का जीवन समुन्नत कर सके, साथ ही वह धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्याचारों, आडम्बरों कुरीतियों आदि के प्रति खुद भी सचेष्ट हो और दूसरों को भी इस संदर्भ में जागरूक कर सके।

किसी समाज विशेष में अत्यधिक सघनता के साथ व्याप्त ऐसे गुणों के समग्र स्वरूप को संस्कृति कहा जाता है जो संदर्भित समाज के सोचने, विचारने और कार्य करने आदि के

स्वरूप में अंतर्निहित होते है। सरल शब्दों में कहें तो किसी समाज विशेष की गतिशीलता एवं अस्तित्व को बनाए रखने तथा उसे उन्नति के उत्कर्ष तक ले जाने के लिए जो नियम-निर्देश नैतिकता व आदर्श आदि बनाए जाते हैं उन्हीं के सर्वोत्तम और संस्कारित स्वरूप को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति की जीवनगत आयामिक परिधि भी अत्यंत व्यापक होती है। इसमें भौतिक और अभौतिक दोनों तरह की वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं। किसी समाज का रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, परम्पराएँ, मूल्य, आदर्श, नैतिकताएँ, मानव-संगठन, शिक्षा प्रणाली, चिकित्सा पद्धति, रीति-रिवाज, लोकगीत, मुहावरे, कहावतें आदि उस समाज की संस्कृति के प्रमुख घटक होते हैं। भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन होने के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं विश्व की अन्य संस्कृतियों की समतुल्यता में सर्वोत्तम भी रही है। विविधताओं से परिपूर्ण भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप भी एक पक्षीय था अर्थात् इसके प्राचीन स्वरूप में किसी तरह की विसंगति व्याप्त नहीं थी। लेकिन मध्यकाल में आए मुस्लिम आक्रांताओं तथा आधुनिक काल के योरोपीय व्यापारियों ने विभिन्न समयों में इसमें अपनी-अपनी संस्कृतियों का अंतर्वेशन करके न केवल इसकी मूलात्मा को विशुद्ध कर दिया बल्कि इसे सदा-सर्वदा के लिए मिश्रित भी कर दिया।

जब से भारतीय संस्कृति में इस्लामी एवं ईसाई संस्कृति के घटकों का घालमेल हुआ है तब से इसके विविध क्षेत्रों में अनेक तरह की विद्रूपताओं का प्रादुर्भाव भी देखने को मिलता है। यद्यपि भारतीय संस्कृति की बुनियाद या आत्मा इतना कमजोर नहीं है कि कुछ समय पहले ही अस्तित्व में आयी नाबालिग विदेशी संस्कृतियों के द्वारा इसके अस्तित्व पर संकट उत्पन्न किया जा सके लेकिन अपनी मूढ़ता, अज्ञानता, कुंठा, अशिक्षा आदि कारणों से हम अपनी संस्कृति पर विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव को नहीं रोक पाए बल्कि उनका अनुकरण करके हमने इस प्रवृत्ति को और भी बढ़ावा दिया है। औपनिवेशिक काल में हम युरोपियनों की वेश-भूषा, रहन-सहन व खान-पान आदि से जो प्रभावित हुए थे। वह प्रभाव आजादी के बाद हमारे अंग्रेज बनने की प्रवृत्ति में परिवर्तित हो गया, परिणाम यह हुआ कि बिना सोचे-

विचारे हम अपनी अमूल्य सांस्कृतिक धरोहरो को छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के प्रति पूर्णतः समर्पित हो गए। अपनी संस्कृति के मूल और परिवर्तित या मिश्रित स्वरूपों का ज्ञान रखना ही सांस्कृतिक चेतना कहलाती है। इस दृष्टि से समाज का साधारण सदस्य हो या फिर साहित्य सेवी दोनों की सांस्कृतिक चेतना संस्कृति के सभी स्वरूपों तक व्याप्त होनी चाहिए। अंतर बस इतना ही होगा कि दैनंदिन व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना जहाँ ज्ञानमूलक प्रकृति की होगी वही रचनाकार की चेतना ज्ञानमूलक होने के साथ-साथ सुधार केन्द्रित भावभूलक भी होगी। दरअसल साहित्य की सांस्कृतिक चेतना सामाजिक मूल्यों, आदर्श व नैतिकताओं आदि से अवगत होने के अतिरिक्त सांस्कृतिक विसंगतियों के निवारण से भी संदर्भित होती है। सामान्य व्यक्ति हो या फिर रचनाकार-सांस्कृतिक चेतना उसे अपनी संस्कृति के प्रति जागरुक रहने के लिए प्रेरित करती है। यह चेतना आवश्यक नहीं है कि एक ही संस्कृति से संबंधित हो, यह एकाधिक संस्कृतियों से भी संबंधित हो सकती है। वस्तुतः सांस्कृतिक चेतना का आयाम समाज या राष्ट्र की परिधि का अतिक्रमण करते हुए विश्वव्यापी स्तर का होता है। एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के बहुमूल्य विचारों, घटको आदि को सहजता से स्वीकार कर लेती है इस दृष्टि से सांस्कृतिक चेतना दो संस्कृतियों को आदान-प्रदान की प्रवृत्ति से भी जोड़ती है। उसके द्वारा किया गया यह संयोजन तभी सार्थक या संभव हो सकता है जब सामाजिक दोनों संस्कृतियों का सम्यक ज्ञान रखता हो। वर्तमान में भूमण्डलीकरण और बाजारवाद जैसे सिद्धांतों ने विश्व संस्कृति की अवधारणा दी है जिससे दुनिया की सभी संस्कृतियाँ एक-दूसरे के अत्यंत समीप आ गयी है। हालाँकि इस सन्निकटता ने मूल सांस्कृतिक विरासतों व प्रवृत्तियों पर यथोचित प्रहार भी किया है लेकिन इस सांस्कृतिक समीपस्थता ने सांस्कृतिक चेतना के मार्ग को और भी अधिक प्रकाशवान बना दिया है।

उदारीकरण जैसी आयातित नीतियों ने सांस्कृतिक विसंगतियों में व्यापक वृद्धि की है जिसके चलते मानव मूल्यों का क्षरण, सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों में बिखराव तथा

सांस्कृतिक अंधानुकरण जैसी प्रवृत्तियों की बाढ़ आ गयी है। ग्रामीण संस्कृति की समतुल्यता में यह परिवर्तन नगरीय संस्कृति में अधिक देखने को मिलता है। हालांकि ग्रामीण संस्कृति में आए परिवर्तन की नकारना बहुत बड़े यथार्थ से मुँह मोड़ना ही होगा। दरअसल आर्थिक संसाधनों के साथ-साथ सूचना और संचार तथा परिवहन आदि के साधन भी नगरों की अपेक्षा गाँवों में कम व धीरे-धीरे पहुँचते हैं यही कारण है कि शहरीय क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में सांस्कृतिक परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती हैं। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं को भी पूरा करना ग्रामवासियों के लिए दुर्लभ होता है। ऐसे में वे कोट-पैंट पहनकर व टाई लगाकर अंग्रेज बनने का सपना आसानी से नहीं देख सकते हैं। औद्योगीकरण, मशीनीकरण, नगरीकरण, भूमण्डलीकरण, यांत्रीकरण, बाजारवाद पूँजीवाद तथा द्वंद्वात्मक भौतिकतावाद आदि वैश्विक अवधारणाओं ने वर्तमान परिवेश में सांस्कृतिक बिडम्बनाओं की व्यापक श्री वृद्धि की है। ये नवोद्भूत सांस्कृतिक विसंगतियाँ अधिकांशतः संस्कृतिक पश्चिमीकरण अर्थात् पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के अनुक्रम अपनी संस्कृति की मूल आत्मा के हनन से ही संदर्भित हैं। इस तरह से उपसंहारात्मक प्रकृति में कहा जा सकता है कि संस्कृति संबंधी चेतना ही सांस्कृतिक चेतना कहलाती है। यह व्यक्तिगत स्तर पर अनुभूत होकर भी व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि के रूप में समाज कल्याण की आकांक्षी होती है तथा साहित्य के संदर्भ में यह चेतना सार्वभौमिक प्रकृति धारण कर लेती है।

2.3.5 साहित्यिक चेतना

साहित्यिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों और घटना-व्यापारों आदि का ज्ञान रखना ही साहित्यिक क चेतना कहलाती है। इसे और अधिक सरल शब्दों में कहना चाहे तो कह सकते है कि साहित्य संबंधी चेतना ही साहित्यिक चेतना कहीं जाती है। यह चेतना साहित्य के अतीत और वर्तमान दोनों से संदर्भित होती है। अतीत की साहित्यिक चेतना

साहित्येतिहास की शिक्षा और ज्ञान के अंतर्गत आती है जब कि वर्तमान को साहित्यिक चेतना समसामयिक साहित्य की शिक्षा तथा ज्ञान में परिगणित होती है। साहित्य की चेतना जितना सामान्य सहदय के लिए महत्व रखती है उससे कहीं अधिक इसकी प्रासंगिकता रचनाकार के लिए होती है। साहित्य के अध्येयता की साहित्यिक चेतना यदि उन्नत किस्म की नहीं होगी अर्थात् उसे अपने साहित्य का अगर सम्यक ज्ञान नहीं होगा तो वह साहित्य के कथ्य, उद्देश्य व अभिधार्थ आदि को सही से ग्रहण नहीं कर पाएगा, ऐसी स्थिति में न तो साहित्य और समाज के मध्य के आपसी संबंधों का समुचित निर्वहन हो पाएगा और न ही साहित्य का लोककल्याण जैसा व्यापक उद्देश्य ही सिद्ध हो पाएगा। दरअसल साहित्य का उद्देश्य क्या हर सर्जक अपनी सर्जनाओं के माध्यम से समाज से क्या कहना चाहता है? आदि प्रश्नो का समुचित उत्तर तभी प्राप्त हो सकता है जब सहृदय अर्थात् पाठक इन प्रश्नों को समझने की योग्यता रखते है। उन्हें यह योग्यता या सामर्थ्य साहित्यिक चेतना के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है।

समाज के साधारण जनो की साहित्यिक चेतना जितनी अधिक समुन्नत किस्म की होगी, साहित्य और समाज के संबंधो में उतनी ही अधिक प्रगाढ़ता का समावेश होगा। यह तो पाठको या सामान्य व्यक्तियों की साहित्यिक चेतना की बात अब तक साहित्यकार, रचनाकार की साहित्यिक चेतना पर दृष्टिपात करते हैं। दरअसल दूसरे मनुष्यों की तुलना में साहित्यिक चेतना का समुन्नत होना अधिक आवश्यक होता है। इसके प्रधानत: दो कारण हैं जिनमें से पहला यह है कि साहित्येतिहास के समुचित ज्ञान के अभाव में साहित्य की रचना संभव ही नहीं हो सकती है। सर्जक चाहे जिस कालखण्ड में सर्जनाओं की परिणति करे, वह प्रत्येक कालावधि में साहित्य के इतिहास से अनिवार्यत: संपृक्त रहता है। साहित्येतिहास की परम्परा से विच्छिन्न रहकर वह व्यावसायिक साहित्य की रचना तो कर सकता है लेकिन संवेदनात्मक साहित्य का प्रणयन ऐसी अव स्थिति में कदापि संभव नहीं होगा।

साहित्य के इतिहास का प्रत्येक कालखण्ड और उसकी सभी प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के साथ घनिष्ठता से संबंधित होती है बल्कि इसे इस तरह से कह सकते हैं, कि साहित्य का प्रत्येक कालखण्ड और उसकी विशेषताएँ अपने से पूर्व की कालवधि तथा प्रवृत्तियों का विस्तारक तथा आगामी कालखण्ड और प्रवृत्तियों की बुनियाद होती हैं। इसलिए साहित्यकार की साहित्यिक चेतना का साहित्येतिहास के अतीत और वर्तमान कालखण्डों तक प्रकीर्णित होना अपरिहार्य होता है। साहित्य के इतिहास के ज्ञान से जहाँ उसे यह जानकारी मिलती है कि इतिहास के किस कालखण्ड में किन परिस्थितियों और मनोवृत्तियों कौन-कौन सी घटनाएं हुई तथा इन घटनाओं के समय चित्तवृत्तियाँ कैसी थी और उन चित्तवृत्तियों में जिस तरह के साहित्य की रचना हुई थी वहीं साहित्येतिहास के समकालीन तथा वर्तमान कालखण्ड के ज्ञान से रचनाकार वर्तमान साहित्यिक परिस्थितियों, जनता की चित्तवृत्तियों, उसकी आकाक्षाओं व आवश्यकताओं आदि का ज्ञान प्राप्त करता है तदन्तर इन्ही के अनुरूप अपनी सर्जनाओं की विषयवस्तु या कथ्य का चयन करता है। साहित्यकार की साहित्यिक चेतना की संपन्नता या अतिव्यापकता का दूसरा कारण उसके लोककल्याणकारी उद्देश्यों की अभिव्यापकता होती है। दरअसल लोकमंगल रचनाओं का केन्द्रीय उद्देश्य होता है इसलिए सर्जक में इतनी अधिक सूक्ष्य अन्वीक्षण और मूल्यांकन की दृष्टि होनी चाहिए कि वह अपनी रचनाओं के लिए ऐसी विषयवस्तु का चयन कर सके। जिससे उसके रचनात्मक उद्देश्य अर्थात् लोकमंगल की शर्त अथवा सिद्धिसहजता से हो जाय। यदि रचनाकार की साहित्यचेतना विलक्षण प्रकार की होगी या फिर यदि उसमे नीर-क्षीर-विवेक की योग्यता सन्निहित होगी तभी वह अपनी रचनाओं में यथेष्ट तथा सार्वकालिक व सार्वभौमिक कल्याण की प्रकृति वाले विषयों को स्थान दे पाएगा, अन्यथा की स्थिति में उसका रचना-कर्म अनावश्यक विषयों के वर्णन-विवेचन से ही भरा होगा।

विगत प्रकरणों में चेतना के जितने भी स्वरूपों का विश्लेषण किया गया है उन सभी की समतुल्यता में साहित्यिक चेतना आयामगत विस्तीर्णता सर्वाधिक होती है। दरअसल

जिस तरह से आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन-क्षेत्र सामाजिक जीवन के अंतर्गत ही आते हैं तथा जैसे समाजिक चेतना में साहित्येत्तर सभी प्रकार की चेतनाएँ अंतर्भुक्त होती हैं ठीक उसी तरह से सामाजिक जीवन सहित जीवन के अन्य क्षेत्र साहित्यिक जीवन की परिधि में आते हैं और वैसे ही सामाजिक चेतना सहित समस्त जीवन-क्षेत्रो से संबंधित चेतनाएँ साहित्यिक चेतना की सीमा में आती हैं। इस तरह से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक चेतनाएँ अंश की प्रकृति में साहित्यिक चेतना रूपी अंशी में अंतर्भुक्त होती है। कारण यह है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है और इस समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक घटक अनिवार्यतः विद्यमान होते हैं इसलिए जब साहित्य समाज की सामाजिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों व चित्तवृत्तियों आदि का शाब्दिक प्रतिबिम्ब निर्मित करने तत्पर होता है तो उसमें शेष सभी जीवन क्षेत्रो संबंधी संगतियों-विसंगतियों का सम्मिलन स्वतः ही हो जाता है। इस तरह से कह सकते हैं कि सामान्य व्यक्तियों एवं रचनाकारों दोनों के लिए साहित्यिक चेतना महत्वपूर्ण कारक होती है बल्कि यही साहित्य-सृजन का मूलाधार होती है। इसी तरह से साहित्यिक परिक्षेत्र में अन्य सभी स्वरुपों वाली चेतना की अभिव्यक्ति करने कार्य भी साहित्यिक चेतना के द्वारा ही किया जाता है।

2.4. सामान्य जीवन और लोकव्यवहार में चेतना की आवश्यकता

चेतना की अर्थवत्ता को ज्ञानमूलक अभिवृत्ति से सम्बद्ध करे या फिर भावमूलक अथवा जीवमूलक अभिवृत्ति से, अपनी प्रत्येक अर्थवत्ता प्रकृति और संरचना आदि में समाज के दैनंदिन मनुष्यों एवं विशिष्ट सृजनशीलता से संपन्न रचनाकार-दोनों की अस्मिता और अस्तित्व को संरक्षण प्रदान करने में इसकी सार्वकालिक महत्ता सिद्ध हो चुकी है। यदि चेतना का अर्थ जीव या प्राण लगाया जाय तो इसके अभाव में सामान्य जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकी है। इसी तरह चेतना की प्रकृति ज्ञानमूलक स्वीकार करने के बाद इसके

अभाव में लोकव्यवहार का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जायेगा, क्योंकि ज्ञान लोकव्यवहार की बुनियाद होता है। समाज में कैसे रहना है, किस तरह के संबंध रखने है, ऐसे कार्यों से समाज और राष्ट्र की उन्नति तथा किनसे अवनति होगी, सामाजिक उत्तरदायित्वों के समुचित निर्वहन के लिए क्या वांछनीय है और क्या अवाछंनीय आदि विषयो ज्ञान न होने पर लोक व्यवहार को सकारात्मक तथा प्रासंगिक नहीं रखा जा सकता है। इसलिए लोक-व्यवहार के लिए चेतना की महती आवश्यकता होती है। लोक व्यवहार की यह चेतना भी यद्यपि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना के स्वरूप में वर्तमान होती है लेकिन इसका संबंध व्यावहारिक जीवन की चेतना से ही होता है न कि साहित्यिक चेतना से अर्थात् समाज या राष्ट्र के साधारण व्यक्तियों की जो विविध स्वरूपी व्यक्तिगत चेतना होती है उसे ही लोकव्यवहार की चेतना कहा जाता है। लोकव्यवहार की चेतना सदैव एकल एवं ज्ञानमूलक प्रकृति की ही होती है अर्थात् साधारण मनुष्य व्यक्तिगतरूप से ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से इस तरह की चेतना धारण करती है। यद्यपि चेतना के अभाव में भी लोक व्यवहार संभव हो सकता है लेकिन शिक्षा तथा ज्ञान से अकिंचन यह व्यवहार अनैतिकताओं, अमर्यादाओं तथा अशिष्टताओं आदि से परिपूर्ण होगा। सीधी सी बात है जब मनुष्य को किसी विषय का ज्ञान नहीं होगा तब स्वाभाविक है कि उसका लोक-व्यवहार स्वतःही दरिद्र व्यावहारिक किस्म का बन जाए। इसी तरह से सामान्य जीवन जीने के लिए वे भी मनुष्य का चेतनाशील होना अपरिहार्य होता है। चेतना के अभाव में मनुष्य मृतक के समान अथवा पशुवत बन जाएगा। एक चेतना ही तो है जो मनुष्य को मनुष्य होने का अभिधान प्रदान करती है, इसलिए इसकी अनुपस्थिति में मनुष्य-मनुष्य कहलाने का अधिकारी भी नहीं रह जाएगा। वस्तुतःसामान्य जीवन और लोक व्यवहार दोनो परस्पर पृथक विषय न होकर एक ही है इसलिए दोनों के लिए चेतना की आवश्यकता समान प्रकृति और परिमाण में होती है।

सामान्य जीवन और लोकव्यवहार के लिए चेतना की आवश्यकता हमे इसलिए भी होती है क्योंकि इसी के माध्यम से हम अपने आसपास का परिवेशगत ज्ञान उपार्जित करके उस परिवेश के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की चेतना का स्तर अलग-अलग होता है और यह आवश्यक नहीं है कि किसी घटना-व्यापार या विषय के संदर्भ में जैसा एक व्यक्ति सोचता है वैसा ही दूसरा व्यक्ति या अन्य सचर भी सोचता हो। एक की चेतना दूसरे की चेतना द्वारा अनुभूत नहीं की जा सकती है। प्रत्येक प्राणी की मानसिक वनावट अलग-अलग होती है तथा उसी के अनुरूप वह वस्तुओं-घटनाओं आदि को देखता है तथा उनका मूल्यांकन करता है। मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की चेतना एक ही संदर्भ में समान नहीं होती है। सूर्यास्त को देखकर जो भावनाएँ या कल्पनाएँ हमारे मन में जागृत होती हैं वही दूसरे जीवो के मन को उद्वेलितन नहीं करती हैं। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक की चेतना प्राणिशास्त्रीय चेतना मानी जाती है लेकिन मनुष्य की चेतना की सीमा प्राणिशास्त्रीय चेतना की परिधि को सहजता से लाँघ जाती है। प्रत्येक जागतिक जीवों की तुलना में मनुष्य की चेतना का विकास सर्वाधिक हुआ है जिसके कारण ही वह दूसरे जीवधारियो से स्वयं को अलग रखने में सफल हो सका है। खानाबदोशी जीवन व्यतीत करने और वस्त्र के नाम पत्ते लपेटने से लेकर आपकी खोज घर-निर्माण, वस्त्रों के अविष्कार तथा हवाई जहाज उड़ानें तक की उसकी यह पहले यात्रा निरंतर विकसित उसकी चेतना के विकास का ही परिणाम है। इससे स्पष्ट है कि चेतना केवल मानव अस्मिता और अस्तित्व का पर्याय ही नहीं बल्कि समस्त मानवीय सभ्यता के विकास की आधारशिला भी है। इसकी निवर्तमानता में मनुष्य न तो सामान्य जीवन व्यतीत कर सकता है। तथा न ही वह एक संगीत लोक व्यवहार में ही सफल हो सकता है। इसी तरह चेतना की अनुपस्थिति उसकी समस्त भौतिक एवं मानसिक उन्नति का मार्ग अवरूद्ध कर देती है। मनुष्य के संदर्भ में यह जितना सामान्य जीवन तथा लोक-व्यवहार के लिए आवश्यक है उतनी ही प्रासंगिकता इसकी

मनुष्य के अभिधान को संरक्षित रखने में भी है क्योंकि चेतनाहीन मनुष्य और अन्य जीवधारियों में रचं मात्र भी विभेद नहीं रह जाएगा।

संदर्भ-सूची

1- संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, संपादक- धर्मेंद्र कुमार गुप्ता, पृष्ठ संख्या- 19,82

2- नालंदा विशाल शब्द सागर, संपादक- नवल, पृष्ठ संख्या- 388

3- मानविकी परिभाषा कोश संपादक- डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ संख्या- 233

4- प्रेमचंद निबंध साहित्य में सामाजिक चेतना, अर्चना जैन पृष्ठ संख्या- 16

5- डिक्शनरी ऑफ फिलोसॉफी, संपादक- आई पोलाव- पृठसंख्या-82

6- मानवीकी परिभाषा कोश, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ संख्या- 50

7- इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका, भाग-6, पृष्ठ संख्या- 364

8- अभिनव मराठी शब्दकोश, अग्निहोत्री, पृष्ठ संख्या- 426

9- प्रेमचंदोत्तर उपन्यासो में सामाजिक चेतना डॉक्टर अमर सिंह लोधा, पृष्ठ संख्या- 1

10- प्रभाकर माचवे के उपन्यासो में सामाजिक चेतना, मंजूर सैय्यद पृष्ठ संख्या- 25, 26

11- जहाज का पंक्षी, इलाचंद जोशी पृष्ठ संख्या- 282

12. बृहदारण्यक उपनिषद - 2/4/14

13- केनोपनिषद 1/3

14- तैत्तरीय उपनिषद्- 2/8

15- सर्वदर्शन संग्रह माधवाचार्य हिन्दी अनुवाद- उमाशंकर शर्मा ऋषि चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, पृष्ठ संख्या- 5

16- भारतीय दर्शन: आलोचना और अनुशीलन मोतीलाल बनारसीदास, संपादक- चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ संख्या- 27

17- शरीरिक भाष्य आचार्य शंकर 213/17

18- वेदांत परिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या- गजानन्द शास्त्री मुसलगांवकर चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पृष्ठ संख्या- 85

19- साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना, डॉक्टर नगेन्द्र, पृष्ठ संख्या- 39

20- हिंदी साहित्य कोश, हर्षनारायण, संपादक- धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ संख्या- 843

21- बीसवीं शती की सामाजिक चेतना, डॉक्टर सोमनाथ शुक्ल, पृष्ठ संख्या-15

22- हिन्दी उपन्यास: सामाजिक चेतना, डॉक्टर कुंवरपाल सिंह पृष्ठ संख्या- 118

23- प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में सामाजिक चेतना, डॉक्टर अमर सिंह लोधा पृष्ठ संख्या- 1

24- बीसवीं शती की सामाजिक चेतना, डॉक्टर सोमनाथ शुक्ल, पृष्ठ संख्या- 14

25- उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा : एक अध्ययन, डॉ. ललित अरोड़ा, पृष्ठ संख्या-165

26- हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना, डॉक्टर रत्नाकर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या-156

27- हिन्दी उपन्यासो में महाकाव्यात्मक चेतना, डॉक्टर सुषमा गुप्त, पृष्ठ संख्या-33

28- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास और आधुनिक चेतना, मंजु तंवर, पृष्ठ संख्या-36